महर्षि संतसेवी

की

बोध-कथाएँ



अखिल भारतीय संतमत सत्संग प्रकाशन
महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर–3
बिहार (भारत)

प्रकाशक
अखिल भारतीय सन्तमत सत्संग प्रकाशन
महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट
भागलपुर, बिहार (भारत)

प्रथम संस्करण : 3,000 प्रतियाँ (सन् 2004 ई0)
द्वितीय संस्करण : 5,000 प्रतियाँ (सन् 2005 ई0)
तृतीय संस्करण : 5,000 प्रतियाँ (सन् 2008 ई0)
चतुर्थ संस्करण : 3,000 प्रतियाँ (सन् 2012 ई0)

मूल्य : पचास रुपये

मुद्रक
शान्ति-सन्देश प्रेस,
महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर–3
बिहार (भारत)

प्रकाशकीय

'महर्षि संतसेवी की बोध-कथाएँ' नाम्नी पुस्तक का चौथा संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें बहुत प्रसन्नता हो रही है। यह पुस्तक धर्मप्रेमियों के बीच बड़ी प्रसिद्ध हुई है। धर्मप्रेमियों की माँग को देखकर ही इसका यह चौथा संस्करण निकालने के लिए हमें बाध्य होना पड़ा।

धर्मप्रेमियों के बीच भजनों और कथाओं की पुस्तकें बड़ी प्रिय होती है। शुष्क ज्ञान में सरसता नहीं होती, जब वही ज्ञान कथाओं के द्वारा लोगों को दिया जाता है, तो वह लोगों को तुरंत हृदयंगम हो जाता है। यही कारण है कि हमारे प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों में कथाओं के द्वारा शिक्षा दी गई है।

'महर्षि संतसेवी की बोध-कथाएँ' नामक ग्रंथ में जो कथाएँ संकलित की गई हैं, वे महर्षि संतसेवीजी महाराज के प्रवचनों और उनकी लिखित पुस्तकों से ली गई हैं। ये सारी कथाएँ उपनिषद्, महाभारत, पुराण, हितोपदेश, पंचतंत्र, संतों के जीवन-चरित, भारत के इतिहास और बौद्ध साहित्य से संबंध रखती हैं। इन सब कथाओं के पढ़ने से मानव-स्वभाव का ज्ञान होने के साथ-साथ अनेक तरह की शिक्षाएँ भी मिलती हैं। इस पुस्तक की उपादेयता इसलिए भी बढ़ जाती है कि इसमें कथाओं से संबंधित 127 रेखाचित्र दिये गये हैं। ऐसे ग्रंथ को आबाल-वृद्ध चाव से पढ़ते हैं।

आशा है, अधिक-से-अधिक धर्मप्रेमी इस शिक्षाप्रद ग्रंथ को खरीदकर लाभ उठाएँगे।

महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट
भागलपुर-3 (बिहार)

—गुरु प्रसाद
18/10/2012 ई०

विषय-अनुक्रम

क्रम	विषय	पृष्ठ
1.	लाल हमारे अंदर है	1
2.	अन्तर्यामी गुरुदेव की दयालुता	4
3.	कर्ण की दानशीलता	6
4.	असली कमाई	9
5.	अंगुलीमाल का उद्धार	12
6.	सूर्य के सामने अंधकार नहीं टिकता	15
7.	एक की टेक	17
8.	यह सच कि वह सच?	19
9.	संत क्षमाशील होते हैं	25
10.	मितभाषी और मिष्टभाषी बनें	27
11.	सद्गुरु मिलै तो उबरै	29
12.	अंधे का हाथी	32
13.	धन से चाह नहीं मिटती	35
14.	भक्त के दुःख से भगवान् द्रवित	37
15.	गोस्वामीजी की आसक्ति छूटी	40
16.	जो देखे सो कहे नहीं	42
17.	सत्संग भगवान् का निज अंग	44
18.	विद्वत्ता से विकार नहीं जाता	47
19.	नरक और स्वर्ग क्या है?	50
20.	ईश्वर अच्छा ही करते हैं	53
21.	अध्यात्म विद्या भी जानें	56
22.	अंतस् की सफाई	58
23.	असर्फी का घड़ा	60
24.	साँच-साँच सो साँच है	62
25.	युक्ति का चमत्कार	65
26.	अधोगति का कारण : मोह	67
27.	बाह्य जगत में सुख नहीं	70
28.	सारिपुत्र की कृतज्ञता	72
29.	कर्मयोगी बनें	76
30.	काल के गाल से कैसे बचें	78
31.	जप में एकाग्रता होनी चाहिए	81

32. कबीर साहब संतोषी थे 82
33. कर्मफल अमिट होता है 84
34. सुख-दुःख हमारे कर्मों का फल है 86
35. दुर्बल को न सताइए 89
36. शून्यं न बस्ती 91
37. जाको राखे सांइयाँ 93
38. गुरु कृपा का चमत्कार 95
39. मन खुराफात मचाता है 97
40. सगुण दर्शन से भ्रम 98
41. सम्पत्ति शिवालय के त्रिशूल पर 101
42. कछुवी की दृष्टि 103
43. जीवन का कोई ठिकाना नहीं 105
44. जागतिक सुख दुःखप्रद है 107
45. गोपीचन्द को माता का उपदेश 109
46. नैसर्गिक आभा की महिमा 111
47. सन्त सुन्दरदासजी की जन्म-कथा 113
48. मानवता के बिना मानव कैसा? 116
49. कूपमंडूक न बने 117
50. संग का रंग लगता है 119
51. नारदजी द्वारा भगवान को शाप 121
52. कर्मफल भोगना ही पड़ता है 125
53. सन्त-दर्शन से हृदय परिवर्तन 127
54. ईश्वर कहाँ रहते हैं? 130
55. संध्या कैसे करूँ 132
56. सन्त-भोजन की महिमा 134
57. असत्य भी दुःख देता है 138
58. मृत्यु में संदेह नहीं 141
59. मन को घुमा-घुमाकर लाओ 143
60. सत्यवादी हरिश्चन्द्र की दुःखगाथा 146
61. पातिव्रत्य धर्म की महिमा 150
62. आदमी की कीमत 154
63. सद्गुरु ही यथार्थ ज्ञान देते हैं 156
64. संतों का आन्तरिक ज्ञान 159

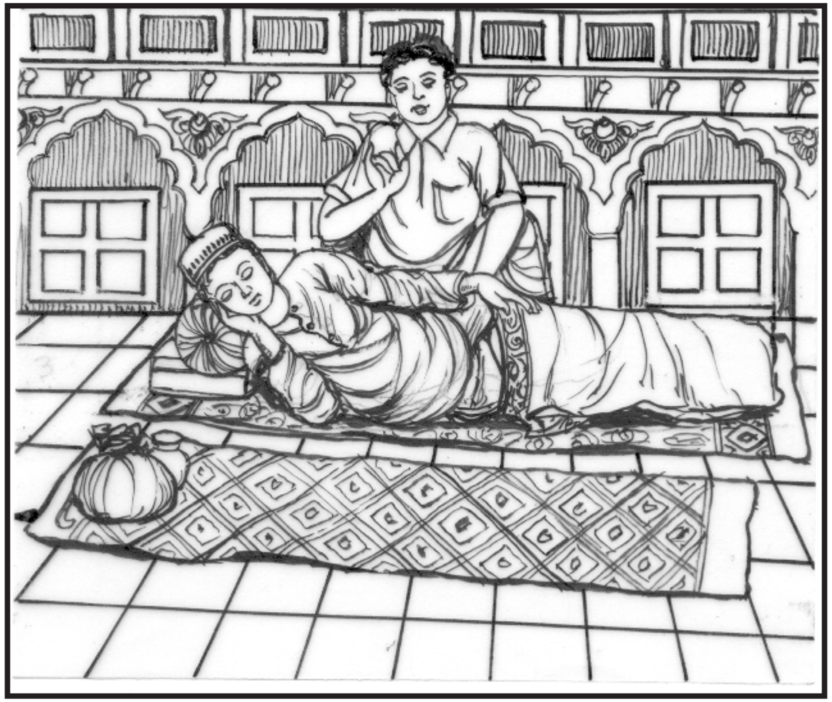
65. संत गंगा को भी पवित्र करते हैं 162
66. आत्मानन्द का अन्त नहीं होता 164
67. श्रीराम द्वारा भगवती-पूजन 168
68. जैसा अन्न वैसा मन 170
69. अणुव्रत 172
70. 'द' का उपदेश 174
71. आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व 176
72. विकारों को दूर करें 181
73. शुभ कर्म शीघ्र करो 186
74. कहता पै करता नहीं 189
75. दुःखों से मुक्ति का मार्ग 191
76. झंडा की गुरुभक्ति 194
77. अपने ऊपर अंकुश रखें 196
78. गुरु-ध्यान की महिमा 197
79. पूर्ण समर्पण का प्रतिफल 199
80. कर्मफल भोगना ही पड़ता है 201
81. संस्कारी व्यक्ति शीघ्र चेतता है 204
82. सिर की कीमत 205
83. एक ईश्वर पर भरोसा रखो 208
84. प्रभु से क्या माँगें? 211
85. कहाँ से आए, कहाँ जाना है? 213
86. अपने अन्दर झाँककर देखो 215
87. ऐसे थे हमारे गुरुदेव 217
88. आधा पल सत्संग का फल 220
89. संत सब कुछ जानते हैं 223
90. व्यर्थ की चिंता से हानि 225
91. ब्रह्मचर्य की महिमा 228
92. पत्थर की कीमत 230
93. सकल सुमंगल मूल 232
94. माता आत्मज्ञान सिखलाती थी 235
95. ईश्वर एक है 236
96. परोपकार साधु का धर्म है 240
97. समयोचित सेवा 242

98. सद्गुरु की महिमा अनन्त 244
99. गुरुभक्त सनातन 246
100. 'चलो' और 'जाओ' 248
101. शीश उतारै भुइँ धरै 249
102. जागतिक पदार्थ बिछुड़नेवाले हैं 251
103. कृष्ण और सुदामा का प्रेम 253
104. भोजनभट्ट पंडितजी 256
105. संकीर्णता से ऊपर उठो 258
106. गुरु-कृपा की महिमा 259
107. धरनीदास की भक्ति 261
108. माता की ममता 263
109. भक्तों के रक्षक भगवान् 265
110. त्रिदेवों में बड़े कौन? 267
111. जिभ्या पतन का कारण बना 269
112. मठाधीश की दुर्दशा 274
113. आचरणहीन का उपदेश व्यर्थ है 277
114. जीव की कुशलता 279
115. स्वर्ग गया या नरक? 282
116. आचार ही नहीं, सदाचार भी चाहिए 283
117. माया क्या है? 285
118. भेंड़ की संगति में सिंह 287
119. जो बोओगे वही पाओगे 289
120. मन बिना लगाम का घोड़ा 291
121. युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ 293
122. शिवाजी की गुरुभक्ति 295
123. जीव अपने कर्मों के वश में है 299
124. पश्चाताप भी प्रायश्चित है 301
125. सन्तमत अन्य मतों का खंडन नहीं करता 302
126. जापानी महिला का स्वप्न 304
127. विदुरानी का प्रभु-प्रेम 306
128. शिवाजी का अहंकार-नाश 308
129. रुक्मिणी का समर्पण 310

ह ह ह

1. लाल हमारे अन्दर है

एक सेठजी थे। उनका लड़का सयाना हो गया था। कोई रोजगार नहीं करता था, बैठा रहता था। सेठजी ने उससे कहा– 'तुम घर पर रहो, मैं बाहर रोजगार करने जाता हूँ।' वे बाहर गए। व्यापार किया। पैसे अधिक हो गए तो उसे लाल में बदलकर एक मनीबैग में रखकर घर की ओर चले। लेकिन जेब में मनीबैग रखते समय उन्हें किसी ठग ने देख लिया। जिस ट्रेन से सेठजी जा रहे थे, उसी में वह भी सवार हुआ। जिस डब्बे में सेठजी बैठे थे, उसी में उनके निकट वह ठग भी जा बैठा। दोनों में थोड़ी देर बातचीत होने पर उस ठग ने कहा– 'बड़ा अच्छा हुआ। मेरे कोई साथी नहीं थे, आप साथी हो गए।' सेठजी उसकी चाल-ढाल से समझ गया कि यह कोई ठग है। वे मन-ही-मन उससे सावधानी बरतने



लगे। निश्चित स्टेशन पर दोनों उतरे और एक धर्मशाला में जाकर ठहरे। दोनों आसपास में अपना बिस्तर बिछाकर बैठ गए। जब खाने-पीने का समय हुआ, तो सेठजी ने कहा– 'आप जाएँ, भोजन कर लें और मेरे लिए भी भोजन लेते आवें।' जब ठग भोजन करने चला गया तो सेठजी ने अपना मनीबैग उसके बेडिंग के नीचे घुसाकर रख दिया। जब वह भोजन करके आया, तो सेठजी ने भी भोजन किया और निश्चिन्त होकर सो गए। लेकिन ठग को नींद कहाँ? उसकी आँखों में तो वह मनीबैग घूम रहा था। जब उसने देखा कि सेठजी गहरी नींद में चले गए, तो उसने उनके पॉकेट, कमर, बिछावन आदि को टटोलना शुरू कर दिया। सारी रात वह मनीबैग खोजता रहा, लेकिन उसे मिला नहीं। जब प्रत्युष हुआ, तो वह मनहूस होकर सो गया। सबेरे जब सेठजी जगे, तो उन्होंने उसको भी जगाया और कहा– 'मेरे भाई, जागो ! सबेरा हो गया।' वह जगा और चाय पीने चला गया। इधर सेठजी ने उसके बेडिंग के नीचे से अपना मनीबैग निकालकर अपने पास रख लिया। जब सेठजी घर की ओर चले, तो वह भी कुछ दूर तक उनके साथ-साथ गया। उसके बाद उसने सोचा कि अब सेठजी का लाल लेना सम्भव नहीं। लाचार होकर उसने सेठजी से कहा– 'सुनिए सेठजी ! मैं ठग हूँ। मैंने समूची रात आपके बिस्तर, पॉकेट, कमर आदि को टटोला, लेकिन मनीबैग का पता नहीं लगा, जिसमें आपने लाल रखा था। अब तो आप थोड़ी देर बाद अपने घर पहुँच जाएँगे, कृपया बताने का कष्ट करें कि आपने रात में मनीबैग कहाँ रखा था। सेठजी ने कहा– 'देखो भाई, जब तुम खाना लाने के लिए बाजार गए थे, उसी समय मैंने मनीबैग को तुम्हारे ही बेडिंग के नीचे घुसाकर रख दिया था और जब तुम सबेरे चाय पीने के लिए गए, तो वहाँ से उसे निकालकर अपने

पास रख लिया। यदि तुम अपनी बिछावन में खोजते तो तुमको मनीबैग अवश्य मिल गया होता, लेकिन तुम तो रातभर मेरी कमर और पॉकेट टटोलते रहे। फिर लाल भरा मनीबैग तुमको मिलता कैसे ?

ठीक इसी तरह परमात्मारूपी लाल हमारे अन्दर है; लेकिन हम खोजते हैं बाहर-बाहर। ऐसी अवस्था में परमात्मा मिलेंगे कैसे ? और जबतक परमात्मा मिलेंगे नहीं, शांति मिलेगी नहीं, यह निश्चित जानिए। संत कबीर साहब ने कहा है–

लाल लाल जो सब कोई कहै, सबकी गाँठी लाल।
गाँठी खोलि के परखै नाहिं, तासे भयो कंगाल।।

लाल बहुत कीमती पदार्थ है। वह गाँठी में है। जबतक गाँठ खुलेगी नहीं, कंगाल बने रहेंगे। गाँठी कहिए, ग्रंथि कहिए, एक ही बात है। वह गाँठी है क्या? गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसका स्पष्टीकरण इस भाँति किया है–

जड़ चेतनहिं ग्रंथि पड़ गई। यदपि मृषा छुटत कठिनई।।

वह जड़-चेतन की ही ग्रंथि है, जिसके खुलने पर परमात्मारूपी लाल की प्राप्ति होती है। वह ग्रंथि कहाँ है, जिसके खुलने पर जीव शिव या परमात्मा हो जाता है? इस संबंध में सभी संतों ने एक स्वर से कहा है– 'वह अपने अन्दर है।' अन्दर में जहाँ गाँठ खुलेगी, वहीं परमात्मा से साँठ-गाँठ होगी।

(शांति-सन्देश, फरवरी 1978 ई0)

2. अन्तर्यामी गुरुदेव की दयालुता

हमारे परम पूज्य गुरुदेवजी महाराज ने बिन्दु और नाद की सुगम्भीर साधना कर उस सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, जिसके आलोक में वे किसी एक स्थल पर बैठे हुए ही समस्त विश्व को देखते रहते हैं। गत भाद्रपद की बात है। मुझे कार्यवश कटिहार जाना था। जब कभी भी मैं किसी कार्य से बाहर जाता हूँ, तो उस ओर से लौटने की तिथि और समय गुरुदेव मुझसे अवश्य पूछा करते हैं। इस बार भी उन्होंने मुझसे कटिहार से लौटने के दिन और समय पूछने की कृपा की। मैंने हाथ जोड़कर कहा– 'अगले बुधवार को वहाँ से दुपहर की गाड़ी से यात्रा कर उसी रात्रि में यहाँ श्रीचरणों में उपस्थित हो जाऊँगा।' तत्पश्चात् उनको प्रणाम कर तथा उनसे आशीर्वाद पाकर मैं कटिहार के लिए प्रस्थित हुआ। वहाँ पहुँचकर तथा वहाँ का


सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस

कार्य सम्पन्न हो जाने पर मैं बुधवार को प्रातःकालिक रेलगाड़ी से ही भागलपुर के लिए लौट पड़ा यानी बिहपुर होते हुए महादेवपुर घाट पहुँचा। वहाँ से स्टीमर-द्वारा बरारी घाट के लिए चला। मेरे साथ में झड़ीलालजी थे। स्टीमर अभी किनारे से थोड़ी दूर था। मेरी दृष्टि, धारा के उस पार किनारे पर खड़ी एक कार पर पड़ी, तो मैंने झड़ीलालजी से कहा– 'ऐसा लगता है जैसे अपनी ही गाड़ी खड़ी हो।' झड़ीलालजी ने कहा– 'जी नहीं, गाड़ी किसी दूसरे की होगी; क्योंकि हमलोगों के यहाँ पहुँचने की बात तो

रात को थी और इस समय के लिए किन्हीं को ज्ञात भी नहीं करवाया गया, फिर भी अज्ञात अवस्था में अपनी कार सरकार (गुरु महाराज) भेजें, सम्भव नहीं।' मैं चुप रहा। शनैः-शनैः चलते-चलते जब स्टीमर बरारी घाट पहुँचा, तो मैंने देखा कि 'शान्ति-सन्देश' के सम्पादक और बरारी घाट के स्टेशन मास्टर साहब वहाँ खड़े हैं और जटी पर से टकटकी लगाकर मेरी ही ओर देख रहे हैं। दोनों सज्जनों को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और उसी मुद्रा में मुस्कुराते हुए मैंने पूछा– 'आपलोग यहाँ कैसे आए!' सम्पादकजी ने उत्तर दिया– 'गुरुदेव की आज्ञा हुई कि अभी इस स्टीमर से सन्तसेवीजी आ रहे हैं, गाड़ी बरारी ले जाइए।' उन्हीं की आज्ञा से आपलोगों को लेने आया हूँ। मैं गुरु महाराज की अन्तर्यामिता और दयालुता को सोच अवाक् रह गया। ओह! मुझ तुच्छ पर भी उन महान् आत्मा की कितनी महती करुणा है! इनकी महिमा अनन्त है। इतना ही नहीं, यह तो बाह्य जगत् की बात हुई। हमलोगों के मन-गगन में विविध विचार के जो विभिन्न विमान उड़ते हैं, गुरुदेव उन्हें भी प्रत्यक्ष देखते हैं।



महर्षि संतसेवी परमहंस

एक दिन उन्होंने मुझसे कहने की कृपा की थी– 'लोगों के मन में ऐसे-ऐसे कुत्सित विचार उठते हैं कि यदि उनको यह दिया जाय तो वे पुनः मुँह दिखाने नहीं आएँ।' बात यह है कि जिन्होंने साधना करके सिद्धि पा ली है, उनके लिए कोई भी बात असम्भव नहीं।

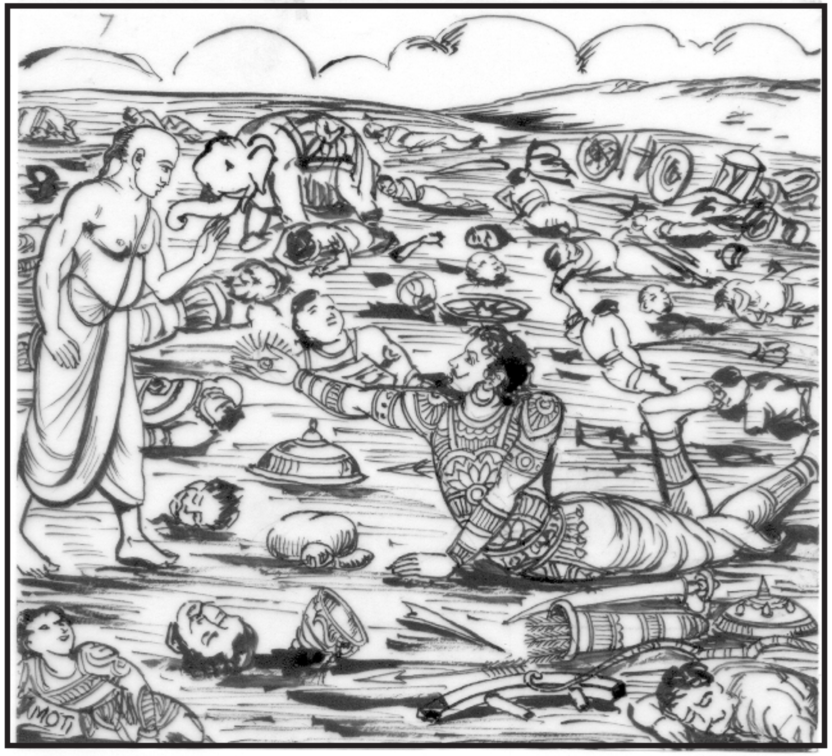
(शान्ति-सन्देश, मई-जून 1977 ई0)

र

3.कर्ण की दानशीलता

कर्ण बहुत बड़े दाता थे। महाभारत के मैदान में वे घायल हो गए। अभी प्राण-पखेरू उड़े नहीं थे, लेकिन असक्त होकर गिर पड़े थे। कौरव के दल में लोग दुःख मना रहे थे। भगवान् श्री कृष्ण पाण्डव दल में थे। लेकिन रह-रहकर आहें भरते थे। वे कहते थे– आज संसार का सबसे बड़ा दाता उठ गया। कर्ण की प्रशंसा करते थे। कर्ण की प्रशंसा अर्जुन के कर्ण को कब सुहाबे ? मन-ही-मन वह कहने लगा, पीछे उसने खुलकर भी कहा कि भगवान्! आप यह क्या कह रहे हैं। आपको मालूम नहीं है कि हमारे भाई युधिष्ठिर कितने बड़े दानी हैं, कितने बड़े सत्यवादी हैं। भगवान् ने कहा– 'तुमको पता नहीं, कर्ण कैसा दानी है। अब भी वह जीवित ही है, मरा नहीं है। चलो मेरे साथ, मैं दिखा दूँ। रात का समय है। अंधकार का साम्राज्य है। युद्ध के मैदान में गीदड़ों का राज्य है। भगवान् कृष्ण जाते हैं एक ब्राह्मण का वेश बनाकर। अर्जुन थोड़ी दूर पर उनके पीछे रहते हैं। दूर से ही भगवान् पुकारते हैं– 'दाता कर्ण! कहाँ हो?' अब उस अवस्था में भी अपना नाम सुनकर कर्ण अपना सिर उठाते हैं और कहते हैं कि इस समय कौन मेरा नाम लेकर पुकार रहे हो, सामने आओ। भगवान् ब्राह्मण के वेश में वहाँ पर जाते हैं और कहते हैं– 'मैं एक ब्राह्मण हूँ।' कर्ण ने कहा– 'क्या चाहिये आपको? उन्होंने कहा– 'मुझे दो सरसों के बराबर सोना चाहिए।' कर्ण ने कहा– 'देखो ब्राह्मण देव! मैं तो मृत्युशय्या पर पड़ा हूँ, दो सरसों की बात कौन कहे, तुम जितना सोना लेना चाहो, मेरे घर पर चले जाओ, मेरी पत्नी वहाँ पर है, मांग लेना, तुम्हारी इच्छा पूरी कर देगी। ब्राह्मण वेशधारी भगवान् ने कहा– 'मैं तो तुमसे माँगने आया हूँ। हमारी पत्नी देगी, हमारा भाई-भतीजा देगा; यह बहलाने

की क्या बात है ? देना है तुमको, तो दो, नहीं तो सीधा जबाब दो। यह बहानाबाजी क्यों ?' कर्ण को याद आई कि मेरे मुँह में जो दाँत हैं, उनमें सोने लगे हुए हैं। उन्होंने कहा– 'ब्राह्मण देवता! मैं अशक्त हूँ, मेरे दाँतों में जो सोना लगा हुआ है, इसे निकाल लो। ब्राह्मण वेशधारी भगवान् ने कहा– 'ब्राह्मण हुआ हूँ इसलिये कि दूसरे के दाँतों को तोड़ूँ और फिर सोना लूँ। तुम मुझे क्या सिखला रहे हो? तू अपना सोना अपने पास रख।' कर्ण फिर सम्भलता है और कर जोड़ कर कहता है– 'ब्रह्मण देवता! वह पत्थर का टुकड़ा मुझे दीजिये। मैं स्वयं दाँत तोड़कर सोना निकाल कर आपको दूँगा। भगवान् ने कहा– 'तेरा नाम तो मैंने बहुत सुना था। आज प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। तू मुझसे चाकरी



करवायेगा, तू मुझसे पत्थर ढुलावेगा, फिर मुझे सोना देगा। वाह रे दाता, वाह रे दानी!' यह सुनकर कर्ण स्वयं घिसकर येन–केन प्रकारेण उस पत्थर के पास जाता है और अपना मुँह उसपर दे मारता है। उसके दाँत टुट जाते हैं, सोना को वह हाथ में ले लेता है और कहता है– 'लीजिए ब्रह्मण देवता।' वे तीन डेग और पीछे हो जाते हैं। ब्राह्मण देवता– 'अरे झूठा, ब्रह्मण को तू जूठा देता है! तू यही दानी है!' उस अवस्था में भी कर्ण येन–केन प्रकारेण धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाता है और धरा पर वाण मारता है। तत्क्षण उससे पानी का फब्बारा निकल आता है। उसमें वह सोने को धोकर भगवान् के हाथ में रख देता है। अब भगवान् अपने रूप में प्रत्यक्ष उसके सामने हो जाते हैं और कहते हैं– 'कर्ण! मांग क्या मांगता है?' कर्ण ने कहा– 'भगवन्! कर्ण तो मात्र देता ही है, वह लेना नहीं जानता। और जब इस अन्तिम घड़ी में आप दर्शन दे ही रहे हैं, तो इसके अतिरिक्त मुझे अब क्या चाहिये?' उनके चरणों पर सिर रखकर कर्ण लुढ़क जाता है और शरीर त्याग देता है।

ऐसा था दानी कर्ण। लेकिन उसके उतने दान करने से भी कोई ऐसा कहनेवाला नहीं हुआ कि अब नहीं चाहिए। लेकिन वह प्रभु जो सबको देने वाले हैं, उनसे मांगो, उनसे याचना करो कि याचकता ही जलकर समाप्त हो जाये। ऐसी मांग करो कि फिर मांगना ही नहीं पड़े। संत तुलसीदासजी महाराज ने कहा–

जग जाँचिय कोउ न जाँचिय जो,
जिय जाँचिय जानकी जानहिँ जी।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाई,
जो जारत जोर जहानहिँ जी।।

र (शान्ति–सन्देश, मार्च 1977 ई0)

4. असली कमाई

एक शिष्य ने अपने गुरु से कहा– 'गुरुदेव! आपके पास क्या कमी है? आप अपने अखूट भंडार में से थोड़ा मुझे दे दीजिए। सुभाषित है–

पारस अरु संत में बड़ो अन्तरो जान।
वह लोहा कंचन करै, यह करिले आप समान।।

जब पारसमणि पत्थर लोहे को सोना बना लेता है, आप भी कृपाकर मुझे अपने जैसा बना लीजिए।' गुरु ने कहा– 'देखो! एक सेठ थे। उनका लड़का सयाना हो गया था, पर वह काम धन्धा नहीं करता था। एक दिन सेठ ने कहा– 'बेटा, कुछ



कमाई कर।' वह लड़का बड़ा दुलार में पला था। अपने पिता से प्रेरणा पाकर उसने दिनभर इधर-उधर चक्कर लगाया, पर कहीं कोई काम नहीं मिला। शाम को अपनी माँ के पास जाकर रोने लगा और कहा– 'माँ! पिताजी पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगा? मैंने आज कुछ कमाया नहीं।' बेटे की रुलाई देखकर माता का हृदय द्रवित हो गया। उसने एक अशर्फी दी और बोली– 'बेटा! अपने पिता को यह दे देना और कहना कि मेरे दिनभर की कमाई है।' श्रेष्ठीपुत्र ने वैसा ही किया। अशर्फी देते हुए कहा– 'पिताजी! लीजिए, यह मेरी दिनभर की कमाई है।' सेठ ने कहा– 'वाह बेटा! बहुत अच्छा। जा इस अशर्फी को कुएँ में डाल दे।' लड़के ने उस अशर्फी को कुएँ में डाल दिया।

दूसरे दिन भी प्रथम दिन की भाँति उसने सारे शहर में चक्कर लगाया, किन्तु कहीं भी कोई काम नहीं मिला। निराश हो वह घर लौटा और सीधे अपनी माँ के पास जा पहुँचा। रोते-गिड़गिड़ाते हुए उसने माँ को सारी दुःख की कहानी कह सुनाई। पुत्र के दुःख से दुःखी होकर ममतामयी माँ ने पुनः एक अशर्फी दी। साथ ही उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि कल से मैं कुछ भी नहीं दूँगी। लड़का पिता को अशर्फी देते हुए कहा– 'पिताजी, यह आज की कमाई है।' सेठ ने कहा– 'इसे कुएँ में डाल दो।' उसने वैसा ही किया।

तीसरे दिन उसने बहुत श्रम किया, तो एक पैसा कमा पाया। वह एक पैसा लेकर पिता के पास जाना नहीं चाहता था। उसकी माँ ने उसे बहुत समझाया– 'जा बेटा! डरने की कोई बात नहीं है। तुम्हारे पिताजी तुमको कुछ नहीं कहेंगे।' आखिर वह पिता के पास गया और कहा– 'पिताजी! आज की

कमाई यह एक पैसा है, लीजिए।' पिता ने कहा– 'अच्छा बेटा! जा इसे कुएँ में डाल दे।' यह सुनकर सेठपुत्र अपने पिता पर बहुत झुँझलाया और त्योरी चढ़ाकर बोला– 'मैने सुबह से शाम तक खून-पसीना एक करके इस पैसे का उपार्जन किया है और आप उसे कुएँ में डालने के लिए कहते हैं। मैं ऐसा कदापि नहीं कर सकता।' सेठ ने कहा– 'देख बेटा! पहले की दो अशर्फियों की कीमत तुम नहीं समझ पाए थे, पर आज तुम्हारी असली कमाई है इसीलिए तुम इसे फेकना नहीं चाहते।'

गुरु ने कहा– 'वत्स! इसी तरह यदि मैं तुम्हें अपनी शक्ति से आगे बढ़ा दूँ, तो तुम उसकी कीमत नहीं समझ पाओगे। स्वयं साधना करो और उसके स्वाद को चखो।''

र (शान्ति-सन्देश, नवम्बर 1978 ई0)



5. अंगुलिमाल का उ)ार

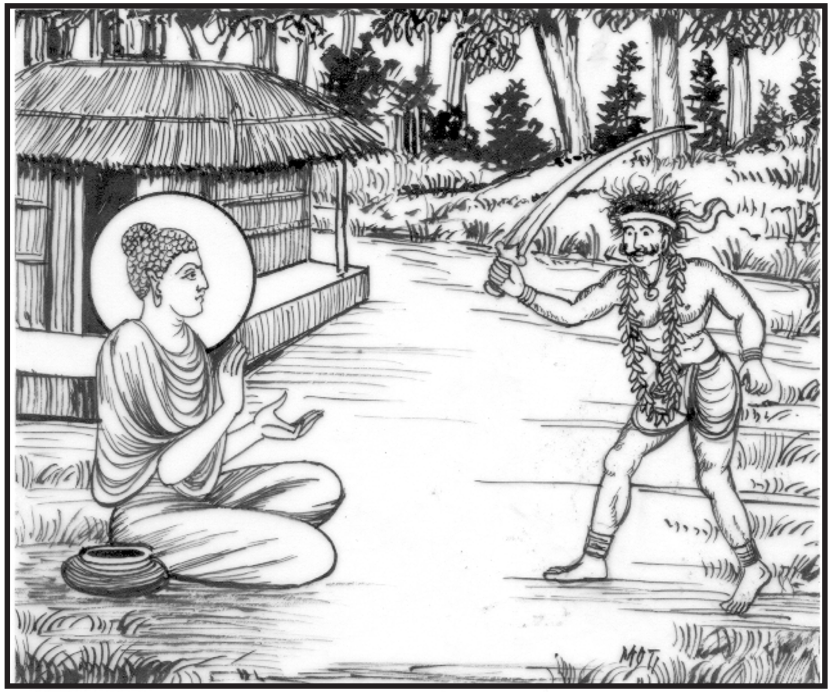
संतों का ज्ञान दुर्जन को सज्जन, कुमार्गी को सुमार्गी, कदाचारी को सदाचारी, अज्ञानी को ज्ञानी, विकारी को निर्विकारी, विषयी को निर्विषयी तथा बन्धनयुक्त को बन्धन-मुक्त करने के लिए होता है। यह कौन नहीं जानता कि सन्तों की अहैतुकी कृपा प्राप्त कर शुद्र से भी शुद्र जन कृत-कृत्य हो गए।

बाल्मीकि नारद घट योनी। निज निज मुखनी कही निज होनी।।

अंगुलिमाल नाम का एक तांत्रिक ब्राह्मण, जो राजपुरोहित का पुत्र था, सतत् जंगल में रहा करता था। वह महा निर्भीक, बलवान एवं अमीषाहारी था। पशु-पक्षी ही नहीं, वह मनुष्यों को भी पकड़कर खा जाता और उनकी अंगुलियों की माला बनाकर गले में पहन लेता। इसी कारण उसका नाम अंगुलिमाल पड़ा। जिस दिन वह किसी गाँव में जाता, उस दिन उस गाँव की जनता सदा शंका और चिंता में निमग्न रहती थी; इसलिए कि न जाने अंगुलिमाल किस समय किसका प्राणान्त करेगा। उस समय के राजा भी उसे दण्डित नहीं कर पाते थे। संयोगवश एक दिन तथागत भिक्षाटन करने उसी गाँव में आ धमके। उस गाँव की जनता को बहुत दुखी, चिन्तित एवं उदास देखकर भगवान् ने इसका कारण पूछा। उन्होने अंगुलिमाल की सारी कहानी कह सुनाई। भगवान् बुद्ध उस गाँव में भिक्षाटन छोड़ जंगल की राह चले। अंगुलिमाल के बासे पर जिस समय भगवान् पहुँचे, उस समय वह वहाँ नहीं था। तथागत वहाँ बैठ गये। कुछ कालोपरान्त वह मृगया से वापस हो अपने बासे पर आया। वह दूर से ही देखता है कि बासे में कोई बैठा है। निकट आने पर वह बोला– 'अरे! तुम तो संन्यासी जान पड़ते हो, अपनी जान गँवाने यहाँ

क्यों आये?' फिर बोला– 'अच्छा, मैं तुमसे कुछ प्रश्न करता हूँ, यदि तुम मेरे सब प्रश्नों के उत्तर ठीक-ठीक दे सको, तो तुम्हारा कुशल है, नहीं तो तुम अपनी जीवन-लीला समाप्त ही समझो।' भगवान् ने नम्रभाव से कहा– 'मित्र! तुम जितने प्रश्न कर सको, करो। मैं सबके उत्तर दूंगा।' अंगुलिमाल बोला– 'अरे! तुम बड़े निर्भीक जान पड़ते हो। अच्छा, मेरे प्रश्नों के उत्तर दो।'

अंगुलिमाल ने जितने प्रश्न किए, तथागत ने सभी प्रश्नों के उत्तर दिए। अन्त में उसने भगवान् के चरणों में गिरकर क्षमा याचना की और कहा– 'भगवन्! तुम महान हो। अब तुम जो कहो, मैं वही करूँगा।' तथागत ने कहा– 'मित्र! तुम्हारा यह वेश उत्तम नहीं, गले से अंगुलियों की माला उतारो, शिर-मुण्डन करो



और मेरे सरीखे तुम भी संन्यासी बनकर मेरे साथ भिक्षाटन करने चलो।' अंगुलिमाल ने वैसा ही किया। अंगुलियों की माला फेंक, मुण्डित सिर हो तथा संन्यासी का वेश धारण कर भगवान् के पीछे-पीछे भिक्षाटनार्थ गाँव की ओर चल पड़ा।

गाँव के लोग जिस अंगुलिमाल को देखकर भयभीत होते थे, वह आज भगवान् के पीछे-पीछे भिक्षाटन कर रहा है, यह देखकर जनता में आनन्द का पारावार नहीं रहा और वे गद्गद् होकर मुक्त कण्ठ से भगवान् बुद्ध की प्रशंसा और यशगान करने लगे। इसीलिए तो संत पलटू साहब ने कहा है–

साध महातम बड़ा है जैसो हरि यश होय।।टेक।।
जैसो हरियश होय ताहि को गरहन कीजै।
तन मन धन सब वारि चरण पर तेकरे दीजै।।
नाम से उत्पत्ति राम सन्त अनाम समाने।
सबसे बड़ा अनाम नाम की महिमा जाने।।
सन्त बोलते ब्रह्म चरण कै पिये पखारन।
बड़ा महा परसाद सीत संतन कर छाड़न।।
पलटू सन्त न होवते नाम न जानत कोय।
साध महातम बड़ा है जैसो हरियश होय।।

केवल संत पलटू दासजी ने ही साधु-सन्तों की इस प्रकार की प्रशंसा नहीं की है, भगवान् श्रीराम ने भी शवरी को नवधा भक्ति के वर्णन में अपने मुखारविन्द से कहा है–

सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोते सन्त अधिक कर लेखा।।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम अपने से विशेष सन्त को ही बताते हैं। (शान्ति-सन्देश, जनवरी 1978 ई0)

र

6. सूर्य के सामने अंधाकार नहीं टिकता

संतों के पास जो सुख है, वह परम प्रभु परमात्मा का सुख है। उस सुख के बाद दुख नहीं है।

इहाँ मोह कर कारन नाहीं।
रवि सन्मुख तम कबहूँ कि जाहीं।

जिस प्रकार सूर्य के सामने अंधकार जा नहीं सकता। उसी प्रकार परमात्म-सुख के सामने दुःख टिक नहीं सकता। इसकी एक रोचक कथा आपलोगों को सुनाता हूँ-

एक बार अंधकार ने भगवान् के पास जाकर प्रार्थना की- 'भगवन्! यह जो सूरज है, मेरा जानी दुश्मन बना हुआ है।



भगवन्! क्या बतलाऊँ, मुझे साँस नहीं लेने देता, चैन लेने नहीं देता। कहीं एक क्षण भी टिकने नहीं देता, मेरा पीछा करता है। कहीं भी मैं जाता हूँ, वह मेरे पीछे जाता है। भारत की गली-गली में वह मेरा पीछा करता है। भारत छोड़कर अमेरिका चला जाता हूँ, वहाँ भी मेरा पीछा करता है। अमेरिका छोड़कर भारत वापस आता हूँ, फिर भी वह मेरा पीछा नहीं छोड़ता। लेकिन मैंने कभी उसकी बुराई की नहीं। इसलिए आप जरा सूर्य को बुलाकर समझा दीजिए कि मेरे साथ वह नाहक क्यों दुश्मनी कर रहा है। भगवान् बोले- 'सूर्य बड़ा अन्याय करता है तुम्हारे साथ। अच्छा अभी बुलाता हूँ।'

भगवान् के दरबार में सूर्य की बुलाहट हुई। भगवान् ने सूर्य को डाँटते-फटकारते हुए कहा- 'अरे! तुम्हारा अंधकार ने क्या बिगाड़ा है, जो तुमने उसके साथ दुश्मनी ठानी है? तुम्हारा क्या नुकसान किया है उस बेचारे ने? तुम उसे कहीं भी चैन लेने नहीं देते। क्या बात है?' सूर्य ने हाथ जोड़कर कहा- 'भगवन्! आज ही पहला दिन है जो आपके मुँह से मैंने सुना है कि अन्धकार भी कुछ होता है। प्रभो! आज तक मुझे कभी अंधकार के दर्शन नहीं हुए। फिर, मैं उससे दुश्मनी ठानूँ तो क्यों? अगर आपको मेरी बात की सत्यता में सन्देह हो, तो अंधकार को मेरे सामने बुलाइये। मैं हाथ जोड़कर उससे क्षमा याचना कर लूँगा।' लेकिन आज तक सूर्य के सामने अंधकार आया ही नहीं।

उसी तरह संतों के पास जो परमात्म-सुख है उस सुख के सामने दुःख टिक नहीं सकता।

(शान्ति-सन्देश, मई 1977 ई0)

र

7.एक की टेक

संतमत का सार है– एक ईश्वर में विश्वास, संत सद्गुरु की आस, पंच पापों का परित्याग, प्रभु के चरण में अनुराग, नित्य भगवद्-भजन और स्वावलम्बी जीवन। संतमत एक ईश्वर पर विश्वास का विचार देता है। वह विश्वास भी कैसा? अचल विश्वास। टलनेवाला विश्वास नहीं। हिल-डोल करनेवाला विश्वास नहीं।

एक समय की बात है– बादशाह अकबर का दरबार था। बादशाह के दरबार में बहुत पढ़े-लिखे लोग, ज्ञानी लोग, कवि लोग, कवीश्वर लोग, सब-के-सब आते थे। उसमें एक कवि



थे– श्रीपतिजी। वे ब्राह्मण थे। और भी बहुत से कवि लोग थे। और कवि लोग तो अपनी कविता में अकबर की बड़ाई किया करते थे, लेकिन श्रीपति कविजी की जो कविताएँ होतीं, ईश्वरे-परक होतीं। अन्य लोग इनसे चिढ़ गए और विचार किया कि इनको नीचा दिखलाना चाहिए। बादशाह से मिलकर इन लोगों ने कहा कि बादशाह सलामत! आप यह कह दीजिए कि कल ऐसी कविता बने कि जिसमें यह पंक्ति अवश्य रहनी चाहिए– 'करो सब आस अकब्बर की।' उनलोगों के मन में यह हुआ कि अगर यह पंक्ति श्रीपतिजी की कविता में नहीं रही, तो बादशाह की नजर में वे गिरेंगे। अगर उन्होंने यह पंक्ति दे दी, तो हमलोग कहेंगे कि तुम तो ऐसी कविता कभी बनाते ही नहीं थे, आज कैसे यह कविता बनायी।

ठीक दूसरे दिन कविता बना-बनाकर सब-के-सब दरबार में हाजिर हुए। सबने अकबर की प्रशंसा में कविता लिखी। बादशाह अकबर सब सुन रहे थे। जब श्रीपतिजी की बारी आयी, तो उन्होंने अपनी कविता सुनायी। उनकी कविता थी–

एकहि छाड़ि जो दूजो भजै
सो जरे रसना अस लब्बर की।
अबकी गुनिया दुनिया जो बनी
सब बांधत फेंट अड्ब्बर की।।
कवि श्रीपति आसरो रामहि को
हम फेंट गही बड़ जब्बर की।
जिनको उस एक की टेक नहीं
सो करो सब आस अकब्बर की।।

जो संत-महात्मा होते हैं, वे यही बतलाते हैं कि उस एक पर विश्वास करो। र (शान्ति-सन्देश, मई 1977 ई0)

8. यह सच कि वह सच ?

एक समय की बात है। राजा जनकजी अपने महल में सोए हुए थे। उन्हेंने स्वप्न देखा कि किसी राजा ने उनके राज्य पर चढ़ाई कर दी। लड़ाई होने लग गयी और घनघोर युद्ध हुआ। अन्त में राजा जनकजी हार गए। वे बन्दी बनाकर नये राजा के सामने लाए गए। राजा जनक डर के मारे थर-थर काँप रहे थे। जिस राजा के अधिकार में राजा जनक हो गए थे, उसने कहा– 'जनक, डरने की कोई बात नहीं है। मैं तुम्हारी जान नहीं लूँगा। तुम्हारे शरीर पर जो राजसी वस्त्र-अलंकारादि हैं– उन्हें उतारकर नीचे रख दो। एक कोपीन पहन लो और तुम इस राज्य से बाहर चले आजो। अब यह सारी प्रजा मेरी हो गयी है।' तदन्तर प्रजाओं में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि अब राजा जनक राजा नहीं रहे। राजा मैं हुआ। अब जनक से कोई बोल तक नहीं सकता। अगर मुझे पता चला कि जनक से कोई एक शब्द भी बोला है तो उसके समूचे परिवार को जलाकर समाप्त कर दिया जाएगा।

अब इधर देखिए– राजा जनकजी पैदल जा रहे हैं। शरीर पर एक कौपीन मात्र है। उनको राज्य सीमा पार करनी है। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन; भूखे-प्यासे चले जा रहे हैं, कोई पूछता तक नहीं। चलते-चलते पैरों में फफोले पड़ गए हैं। अब भूख और प्यास के मारे जीभ मुँह से बाहर हो रही है। येन-केन-प्रकारेण सातवाँ दिन होता है, तो राज्य सीमा पार करते हैं। दुर्बल हो गये हैं। राज्य-पाट पहले ही छीन गया है। जब राज्य-सीमा पार करते हैं, तो पूछते हैं किसी से– 'भाई! बताओ, यहाँ आस-पास में कहीं कुछ खाने को मिलेगा? एक ने कह दिया, 'थोड़ी दूर आगे जाओ, वहाँ खिचड़ी बँटती है। तुमको खिचड़ी मिल जाएगी; लेकिन समय पूरा होने जा रहा है। कहीं ताला न लग जाए भण्डार घर में।' पैरों में फफोले हैं। चल नहीं सकते हैं और

भण्डार के बंद होने का भी भय है। इसलिए वे किसी प्रकार आगे बढ़ते हैं। फफोले फूटते हैं, पानी बहता है और घावों में पीड़ा होती है। इधर भूख भी सता रही है। अतः बढ़ते चले जाते हैं।

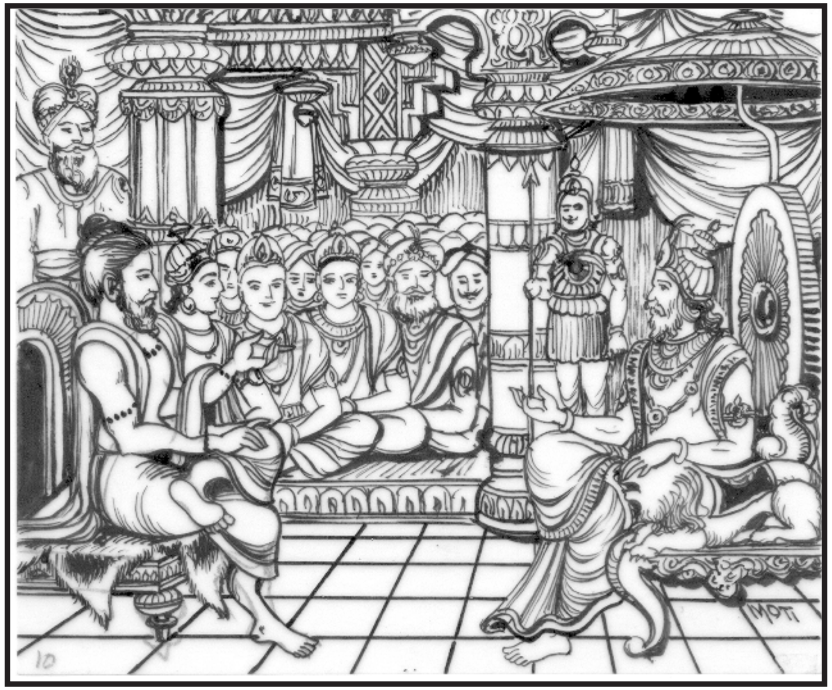
जाते-जाते जब तक पहुँचते हैं– भण्डार में ताला लग ही जाता है। अब क्या हो! कहते हैं– 'मुझे तो बड़ी भूख सता रही है, कुछ खिलाओ।' उत्तर मिला– 'पहले आते तो तुमको खाना मिल जाता, अब तो जितनी खिचड़ी बनी थी, सब बँट चुकी है। हाँ, हो सकता है जली हुई खिचड़ी बर्त्तन में लगी रह गयी हो।' कहा– 'वही खुरच कर खुरचन ही दे दो। भूख से आग लगी हुई है मेरे भीतर।' बर्तन के पेंदे खुरचकर कहा– 'लो! बर्त्तन कहाँ है?' बरतन तो था नहीं। कहा– 'हाथ में दे दो।' हाथ फैलाता है। हाथ पर जली हुई खिचड़ी की खुरचन डाल दी गई। जैसे ही वे उसमें मुँह लगाना चाहते हैं कि एक चील आती है, झपट्टा मारती है और वह खिचड़ी भी हाथ से गिर जाती है।

तब तक राजा की नींद टुट जाती है। इतनी देर तक तो राजा स्वप्न में थे। नींद में थे। अब नींद टुटती है तो देखते है– 'अरे! यह तो राजमहल है। यह मेरी पत्नी है। यह सिंहासन है। यह पलंग है।' अब वे सोचने लगते हैं– यह जो अभी देख रहा हूँ यह सच है कि वह सच था? कुछ बोलते नहीं हैं। बोलते हैं, तो बस इतना ही 'यह सच है कि वह सच?'

रानी जगकर देखती है कि राजा की छाती धक-धक कर रही है। रानी ने पूछा– 'क्या हो गया है आपको?' बारम्बार पूछती है, राजा कोई उत्तर नहीं देते। यही कहते हैं– 'यह सच है कि वह सच।' इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलते। एक दिन, दो दिन, कई दिन बीत गए। डॉ0 आए, वैद्य-ओझा आए, सबसे एक ही प्रश्न– 'यह सच है कि वह सच?' कोई उत्तर दे नहीं सके। आखिर राजा जनक ने घोषणा की– 'जो कोई मेरे प्रश्न का उत्तर दे देगा,

उसको मैं अपना गुरु बना लूँगा और आधा राज्य दक्षिणा में दे दूँगा।' राजा जनक बड़े ज्ञानी राजा हैं, जो कोई उनके गुरु बने, उसमें उनका कितना बड़ा सम्मान होगा, यह जानकर बड़े-बड़े धुरन्धर पण्डित आए, समझाने-बुझाने के लिए, प्रश्न का उत्तर देने के लिए; लेकिन समाधान नहीं हो सका। अन्त में, जब प्रश्न निरुत्तरित ही रहा तो राजा जनक ने सोचा कि ऐसे अब घर बैठे-बैठे नहीं होगा। वे एक रथ पर सवार होकर चल पड़ते हैं गुरु की खोज में।

उधर से अष्टावक्र मुनि आ रहे थे। अष्टावक्र अर्थात् जिनके आठो अंग टेढ़े हों। जो रथवाहक था उसने कहा– 'अरे तुमको सूझता नहीं है? राजा की सवारी आ रही है और तू सीधे चला आ रहा है।' अष्टावक्र मुनि के कहा– 'अन्धा मैं हूँ या तुम हो या जो उस रथ पर बैठा हुआ है वह है? अरे कोई लंगड़ा होता है, लूला होता है, अंधा होता है, अंग विहीन होता है, तो उसे रास्ता दिया



जाता है, उससे रास्ता मांगा नहीं जाता। तुम देख रहे हो, मैं आठो अंग से टेढ़ा हूँ, चलने-फिरने में भी लाचार हूँ और उल्टे तू मुझसे रास्ता मांग रहा है। तारीफ यह है कि उस रथ पर बैठा हुआ जो अंधा है, वह भी कुछ कहता नहीं है।' राजा जनक ने सोचा यह कोई साधारण आदमी नहीं हो सकता। राजा जनक रथ से उतर पड़े और बोले– 'महात्मन्! आप कौन हैं?' मुनि ने कहा– 'तुम कौन हो?' राजा बोले– 'मैं तो राजा जनक हूँ।' मुनि ने कहा– 'कहाँ चले हो?' राजा ने कहा– 'गुरु की खोज में चला हूँ।' मुनि ने हँसकर कहा– 'तुम रथ पर बैठकर चले हो गुरु खोजने के लिए। रास्ते में गुरु मिल जाएँ तो उन्हें कैसे ले जाओगे?' राजा बोले– 'महाराज! मैं पैदल चलूँगा, गुरु को रथ पर बैठा लूँगा। अगर आप मेरे प्रश्न का उत्तर देना चाहें तो रथ पर पधारें।' मुनि ने कहा– 'चल, मैं तेरे प्रश्न का उत्तर दूँगा।' राजा अष्टावक्र मुनि को रथ पर बैठा लेते हैं और स्वयं पैदल चलते हैं। प्रजा देखती है कि महाराज पैदल चले आ रहे हैं। सब चकित हैं। आखिर रथ पर कौन है?

राजमहल आता है। अष्टावक्र मुनि को रथ पर से उतारा जाता है। उनके हाथ, पैर, मुँह, कान, नाक सब-के-सब टेढ़े थे। यह देखकर राजा जनक के सभासद हँस पड़े। इधर अष्टावक्र मुनि ने भी ठहाका लगाकर हँस दिया। राजा जनक ने मुनि को आदर सत्कार के साथ बैठाया और पूछा– 'आपके हँसने का कारण?' मुनि ने कहा– 'राजन्! तुम्हारे जो सभासद हैं पहले उनसे हँसने का कारण पूछो। पहले वे उत्तर दे दें, उसके बाद मैं उत्तर दूँगा।' सभासदों ने कहा– 'इस तरह की कुरुपता हमलोगों ने पहले कभी देखी नहीं थी। इस प्रकार के रूप देखने से हमलोगों को एकाएक हँसी आ गई।'

अब अष्टावक्र मुनि बोले– 'मेरे हँसने का कारण यह है कि मैंने सुन रखा था– महाराज जनक की सभा में बड़े-बड़े ज्ञानी हैं,

विद्वान हैं, विज्ञानी हैं, ब्रह्मवेत्ता हैं, आत्मदर्शी हैं। लेकिन जब मैं सभा में पहुँचा हूँ, तो मुझे बड़ी निराशा हो रही है। यहाँ तो देखता हूँ कि सब-के-सब चमार बैठे हुए हैं।' राजा जनक ने विस्मयपूर्वक कहा– 'महाराज! आप ऐसी बात क्यों कर रहे हैं?'

मुनि ने उत्तर दिया– 'अगर कोई आत्मविद् होता, आत्मज्ञानी होता, यथार्थ में कोई ब्राह्मण होता, तो वह ब्रह्म की पहचान करता। ब्रह्म की पहचान करनेवाला ही ब्राह्मण होता है। चमड़े और हड्डी की पहचान करनेवाले, भला, चमार नहीं तो और क्या हो सकते हैं? इन सभासदों ने तो मेरे चमड़े और हड्डी की पहचान की है। मेरा यह अंग टेढ़ा, मेरी यह हड्डी टेढ़ी, यह चमड़ा टेढ़ा। चमड़े और हड्डी की पहचान करनेवालों को चमार की संज्ञा न दी जाए तो और क्या कहा जाय? समझो, विचारो तो तुम। नदी टेढ़ी होती है, लेकिन उसका पानी टेढ़ा नहीं होता। उसी प्रकार यह शरीर टेढ़-मेढ़ा हो सकता है; परन्तु इसके अन्दर निवास करनेवाली आत्मा टेढ़ी नहीं हो सकती। वह तो ज्यों-की-त्यों है। अरे अपने बगल में लगे तकियों को देखो– तकियों के ऊपर के खोल जो हैं– कोई लाल है, कोई नीला है, कोई पीला है, कोई कैसा है; लेकिन सबों के अन्दर एक ही प्रकार की रुई रहती है। उसी तरह शरीर बाहर से गोरा है, काला है, लम्बा है, नाटा है, मोटा है, दुबला-पतला है, यह तो शरीर का रूप-रंग है, आकार-प्रकार है; लेकिन उसके अन्दर रहनेवाली आत्मा का स्वरूप तो एक ही है।'

राजा जनकजी समझ गए कि ये कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। उन्होंने कहा– 'महाराज! अब मेरी जो जिज्ञासा है उसका समाधान किया जाए।' मुनि ने कहा– 'पूछो।' राजा ने कहा– 'यह सच है कि वह सच?' मुनि ने अल्पकाल के लिए अपनी आँखें बन्द की और फिर खोल दी। सारी स्थिति को जान लिया। आँख बन्द करते ही वे सारी घटना देख चुके। उनहोंने कहा–

'राजन्! न यह सच है और न वह सच है।' राजा ने कहा– 'यह आप क्या कह रहे हैं? खुलासा कीजिए।' मुनि ने कहा– 'राजन्! जिस प्रकार तुम्हारे राज्य पर किसी दूसरे राजा ने चढ़ाई की थी, घनघोर युद्ध हुआ था, तुम हार गये थे, सभी राजोचित वस्त्र-अलंकार तुमको छोड़ने पड़े थे, एक कौपीन पहनकर सात दिनों तक भूखों पैदल चले थे। पैरों में फफोले पड़ गये थे, भूख-प्यास के मारे तुम्हारी जान निकल रही थी और भिक्षा में हाथ में जली हुई खिचड़ी की खुरचन मिली थी, उसी वक्त चील ने झपट्टा मार दिया था, क्यों याद है ना?' जनक ने कहा– 'हाँ याद तो है।' मुनि ने पूछा– 'क्या वह स्थिति अभी है?' राजा बोले– 'नहीं महाराज, अभी तो नहीं है।' मुनि ने कहा– 'जिस वक्त तुम उस अवस्था में थे, क्या अभी की अवस्था थी तुम्हारी?' राजा ने कहा– 'नहीं।' मुनि ने पूछा– 'यह राज्य-वैभव था?' राजा ने कहा– 'नहीं, राज्य-वैभव कहाँ? तब तो मैं कंगाल था।' मुनि ने कहा– 'उस कंगाल की अवस्था में थे तब यह राज्य वैभव नहीं था और जब तुम राजा बने हुए हो तब वह कंगालवाली अवस्था नहीं है। इसलिए न यह सच न वह सच। उस अवस्था के लिए यह अवस्था झूठी और इस अवस्था के लिए वह अवस्था झूठी। इसलिए न यह सच है न वह सच है।' राजा ने पूछा– 'महाराज तब क्या सच है?' मुनि बोले– 'कंगाल कौन था?' राजा ने कहा– 'मैं था।' मुनि बोले– 'अभी राजा बना कौन बैठा है?' राजा ने कहा– 'मैं हूँ राजा।' मुनि बोले– 'तब तुम ही सच हो, तब भी तुम थे और अब भी तुम हो। इसलिए तुम सच हो।'

तो, यह 'तुम' जो सच है, इस सच को परमात्मा से मिला दो। सत् का सत् से संग हो जाएगा– यही यथार्थ में सत्संग होगा। तुम्हारे सारे क्लेश मिट जाएँगे। (शान्ति-सन्देश, जुलाई 1977 ई0)

र

9. संत क्षमाशील होते हैं

सन्त दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए स्वयं कष्ट सहते हैं। इतना ही नहीं, अपकार करनेवालों पर भी उनकी अहैतुकी कृपा होती रहती है। इन्द्रदेव ने क्रोधावेश में आकर दधीचि ऋषि का शिरोच्छेदन किया; किन्तु कुछ ही दिनों के पश्चात् इन्द्र की प्रार्थना से द्रवित होकर ऋषि ने अपने वक्षःस्थल की अस्थि देवराज इन्द्र को दी।

भगवान् बुद्ध को कोई व्यक्ति बहुत-सी गालियाँ देते हुए उनके समीप गया। तथागत ने नम्रभाव से सादर कहा— 'आओ मित्र! बैठो। कहो मेरे लिए कुछ सन्देश लाए हो?' यह सुनकर वह और उत्तेजित होकर उनपर गालियों की बौछार करते हुए



बोला— 'निर्लज्ज! इतनी गालियाँ सुन चुकने पर भी तुम्हें लज्जा नहीं आती?' गालियाँ समाप्त होने पर भगवान् ने उसको अपने पास बैठाकर प्रेमभाव से पूछा— 'मित्र! मैं तुमसे एक प्रश्न करता हूँ। कहो यदि कोई अतिथि आतिथ्य करनेवाले के यहाँ कुछ सन्देश लेकर जाए और वह गृहपति उसके सन्देश को ग्रहण नहीं करे, तो वह सन्देश किसका होगा?' आगत व्यक्ति ने कहा— 'जिसने सन्देश लाया, उसका।' भगवान् ने कहा— 'मित्र! तुमने मेरे लिए जितने सन्देश लाए, मैंने उनमें से एक भी स्वीकार नहीं किया।'

आगत व्यक्ति भगवान् की ऐसी सहनशीलता, क्षम्यभाव तथा विशाल हृदय को देखकर लज्जित होकर वह उनके पैरों पर गिर पड़ा।

सन्त-महात्मा किसी का अपकार नहीं करते और न किसी को दण्ड से पीड़ित करते हैं। वे किसी का नाश करने के लिए इस भूतल पर अवतरित नहीं होते; बल्कि अखिल विश्व को अपना ज्ञानामृत पान कराकर अमर करने के लिए अवतरित होते हैं। इसीलिए तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

विश्व उपकार हित व्यग्रचित्त सर्वदा।
त्यक्त मदमन्युकृत पुण्य रासी।
यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि
सहित गच्छन्ति क्षीराब्धि वासी।।

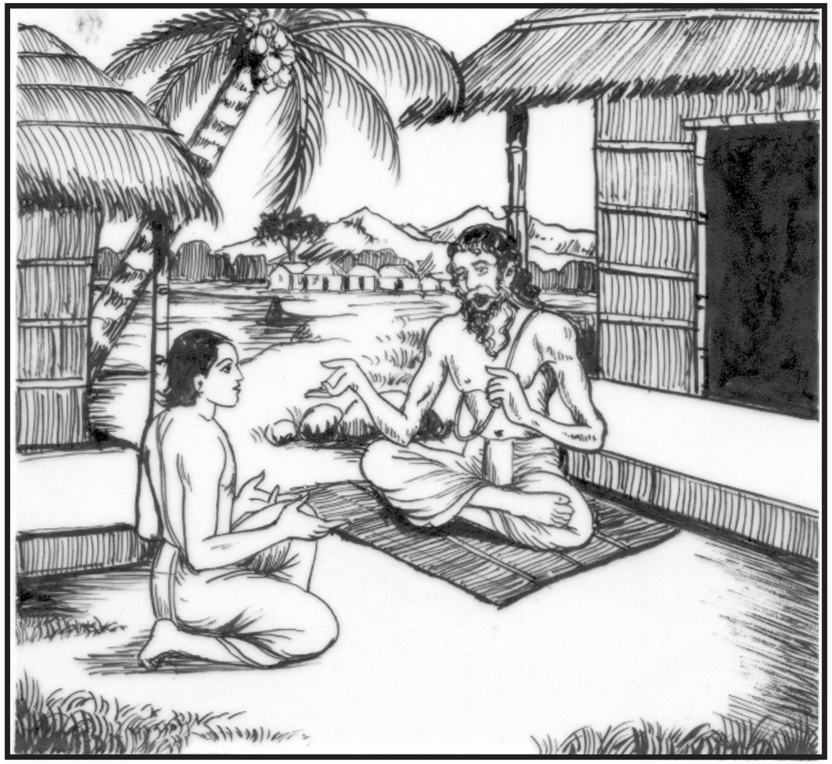
(शान्ति-सन्देश, जनवरी 1978 ई0)

र

10. मितभाषी और मिष्टभाषी बनें

संतों एवं सद्ग्रंथों की यही सीख है कि वाणी में असत्यता, मदमत्तता वा कटुता तो हो ही नहीं, वरं सत्यता के साथ मृदुता भी सुनिश्चित रूप से मिश्रित हो। यही कारण है कि हम सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के वचन में 'सत्य सुहाता वचन कहिये' और संत कबीर साहब के वचन में 'साँची कहे बनाय' तथा 'कटुक वचन मत बोल रे' की मधुर ध्वनि पाते हैं।

प्राचीन काल में चीन देश में एक वयोवृद्ध महात्मा रहते थे। परिनिर्वाण प्राप्त करने के कुछ पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाया और अपना मुख खोलकर दिखाते हुए कहा– 'तुमलोग



क्रम-क्रम से मेरे मुख के भीतर अच्छी तरह देख लो, यह मेरी अन्तिम शिक्षा है।' शिष्यों ने महात्माजी के कहे अनुकूल अच्छी तरह उनके मुख को देखा। महात्माजी ने पूछा– 'समझा?' शिष्यों ने एक स्वर में कहा– 'जी नहीं।' महात्माजी ने कहा– 'अच्छा, कहो मेरे मुख में कितने दाँत हैं?' शिष्यों ने उत्तर में कहा– 'एक भी नहीं।' महात्माजी ने पूछा– 'अब समझा?' शिष्यों ने पुनः उत्तर दिया– 'जी नहीं।' महात्माजी ने समझाते हुए कहा– 'देखो जिभ्या जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त शरीर के साथ रहती है। कभी भी शरीर को छोड़ती नहीं। शरीर के साथ रसना का अविच्छिन्न संबंध रहता है, किन्तु दाँत पीछे आता है और शरीर छूटने के पहले ही चला जाता है। क्यों? जिह्वा सदा सुकोमल रहती है और दाँत सतत कठोर। इसलिए मेरे बच्चो! जगजीवन में दीर्घ जीवन चाहो तो कठोरता त्याग कर नम्रता-मृदुता धारण करो। मितभाषी और मिष्टभाषी बनो।

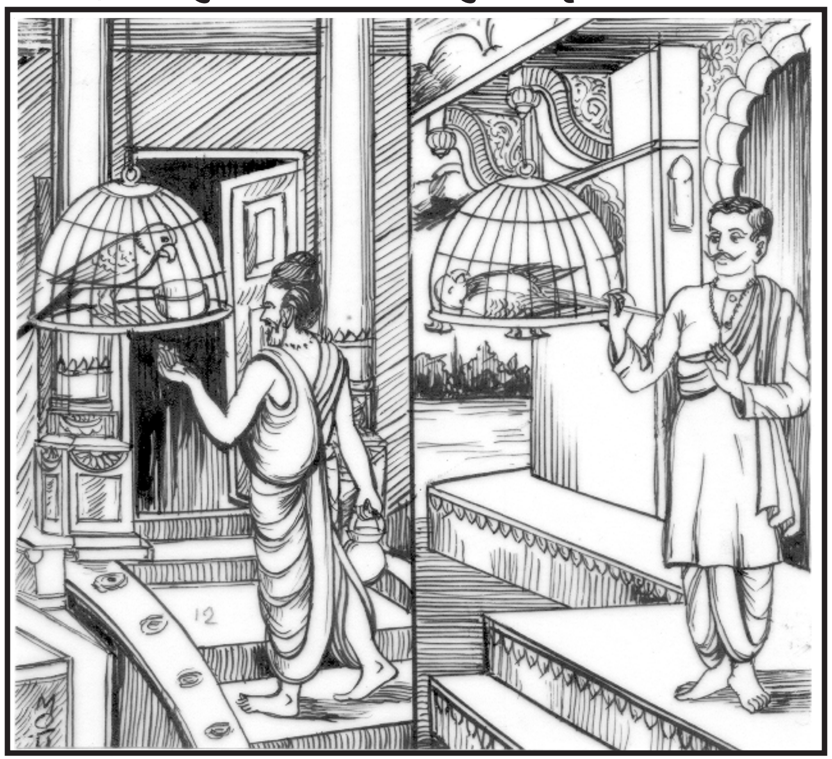
कहते हैं किसी भूपति ने स्वप्न देखा कि उसके मुँह के सारे दाँत टूट गए हैं। निद्रा भंग होने पर उसे बड़ी चिन्ता हुई और उसने एक पण्डित को बुलाकर अपना स्वप्न-फल पूछा। पण्डित ने कहा– 'आपके समक्ष ही आपके समस्त परिवार का विनाश होगा, यही इस स्वप्न का फल है।' राजा को उसकी कटुक्ति अच्छी नहीं लगी और उसने उसकी जिभ्या कटवा दी। पुनः अन्य पण्डित को बुलाकर राजा ने स्वप्न-फल पूछा। इस दूसरे पण्डित ने कहा– 'महाराज! आपके स्वप्न का फल बहुत अच्छा है। आपके परिवार में सबसे विशेष आयु आपकी है।' राजा बहुत प्रसन्न हुआ और पण्डितजी को पुरस्कृत करके प्रेमपूर्वक विदा किया। किसी ने ठीक ही कहा है– 'बातों हाथी पाइये बातों हाथी पाँव।'

(शान्ति-सन्देश, जनवरी 1988 ई0)

11. सद्‌गुरु मिलै तो उबरै

शास्त्रों में सन्त सद्‌गुरु की बड़ी महिमा गाई गई है। वास्तव में ध्यान-योग का यत्न संत सद्‌गुरु ही बतला सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। कोई कहे ध्यान तो हम भी करते हैं। राम का, कृष्ण का, काली का, शिव का, विष्णु का, गणेश का, सूर्य का और जप भी करते हैं। यह बहुत अच्छी बात है कि आप जप भी करते हैं और ध्यान भी। मगर यह सुनिश्चित समझ लीजिए कि जप और ध्यान की जो यथार्थ विधि है, उसको सन्त सद्‌गुरु से जाने बिना करते हैं, तो वह जप और ध्यान महाफलदायक नहीं हो सकता।

एक साधु बाबा थे। वे मधुकरी वृत्ति से भोजन कर



जीवन-यापन करते थे। जिसके दरवाजे पर वे जाते, टेर लगाते– 'राम-राम करै, भवसागर तरै। राम-राम करै, भवसागर तरै।' ऐसे ही एक बार वे एक सद्‌गृहस्थ के दरवाजे पर गए और टेर लगाने लगे– 'राम-राम करै, भवसागर तरै ....।'

उस गृहस्थ के यहाँ सामने ही दरवाजे पर एक लोहे के पिंजड़े में सुग्गा रहता था। उसने साधु बाबा की टेर सुनकर कहा– 'राम-राम करै, लोह पिंजर पड़ै।' साधु बाबा ने उस सुग्गे से पूछा– 'अरे! यह क्या बोल रहे हो? कितने लोग राम का नाम लेकर संसार-सागर तर गए। तुम उल्टी बात क्यों बोलते हो।' तोते ने कहा– 'बाबा आपने किसी किताब में पढ़ा होगा, अथवा किसी साधु बाबा ने आपको बहला दिया होगा कि राम-राम कहने से लोग भवसागर तरते हैं। आपका तो अध्ययन व श्रवण ज्ञान है, किन्तु मेरा तो अनुभव ज्ञान है। देखिए न, मैं राम-राम कहता हूँ और लोह के पिंजड़े में जकड़ा हूँ। मेरे दूसरे जाति भाई या और भी पक्षी, जो राम-राम नहीं कहते, वे स्वतंत्र उड़ते फिरते हैं। जहाँ उनकी इच्छा होती है वहाँ वे जाते हैं, जो खाने की इच्छा होती है, खाते हैं और मुक्त भाव से इस नील गगन की छाया में विचरण करते हैं।'

साधु बाबा ने कहा– 'युक्ति करै तो सहजै तरै।' तुम राम-राम तो कहते हो सही, किन्तु युक्ति जानकर नहीं। बिना युक्ति के राम-राम कहते हो, इसलिए बन्धन में पड़े हो। बिना युक्ति के मुक्ति नहीं मिलती। जो युक्ति जानकर करता है, उसी को मुक्ति मिलती है। इसीलिए युक्ति जानो और करो। फिर देखो, मुक्ति मिलती है कि नहीं।' उस सुग्गे ने कहा– 'बाबा! मैं कहाँ किनको ढूँढ़ने जाऊँ? आप ही युक्ति बताने की कृपा कीजिए।' साधु बाबा ने उसे एक क्रिया बता दी, जिसका वह नित्य

नियमपूर्वक अभ्यास करने लगा। अभ्यास करते-करते उसको कुछ-कुछ सफलता मिलने लगी। शनैः-शनैः उसका प्राणस्पंदन-निरोध होने लगा। एक दिन जब वह क्रिया कर पिंजड़े में पड़ा था, उसी समय उसके मालिक ने उसको खिलाने के लिए पिंजड़ा खोला, तो देखा कि सुग्गे की प्राण-गति बंद है। उसको मरा जानकर उसने पिंजड़े से निकालकर फेंक दिया। सुग्गा मौका पा उड़कर गगन में स्वतंत्र विचरण करने लगा।

यह तो एक कथा है। यर्थात् इसके अन्दर क्या है? समझिए-महायोगी गुरु गोरखनाथजी महाराज ने कहा है-

सप्त धातु का काया पिंजड़ा, ता माहिं जुगति बिन सूवा।
सद्गुरु मिलै तो उबरै बाबू, नहिं तो परलय हुवा।।

रस, रक्त, मेद, मज्जा, मांस, अस्थि और वीर्य; इन सप्त धातुओं के संयोग से यह शरीररूपी पिंजड़े का निर्माण हुआ है। इसमें जीवरूपी सुग्गा बैठा हुआ है। इसको जो कुछ सिखा दिया जाता है, बोलता है। जैसे- राम-राम, शिव-शिव, वाह गुरु आदि। जो सिखा दिया वह बोल रहा है, किन्तु विधि-विहीन बोल रहा है। इसलिए वह शरीर और संसार के बंधन में, काल के जाल में पड़ा है। अगर सच्चे सद्गुरु से भेंट हो जाए, उनसे सद्युक्ति मिल जाए और तद्नुकूल आचरण करने लग जाए, तब तो 'उबरै बाबू' यानी उद्धार-ही-उद्धार है, अन्यथा पिंजड़े में तो पड़ा हुआ है ही, आवागमन के चक्र में रहेगा ही और जीवन दुखमय बना रहेगा। शाश्वत सुख का मुख नहीं देख सकेगा। परम कल्याण नहीं हो सकेगा और न अविचल शान्ति ही प्राप्त हो सकती है। अतएव संत सद्गुरु की अपरिहार्य आवश्यकता है।

(शान्ति-सन्देश, जून 1988 ई0)

र

12. अंधो का हाथी

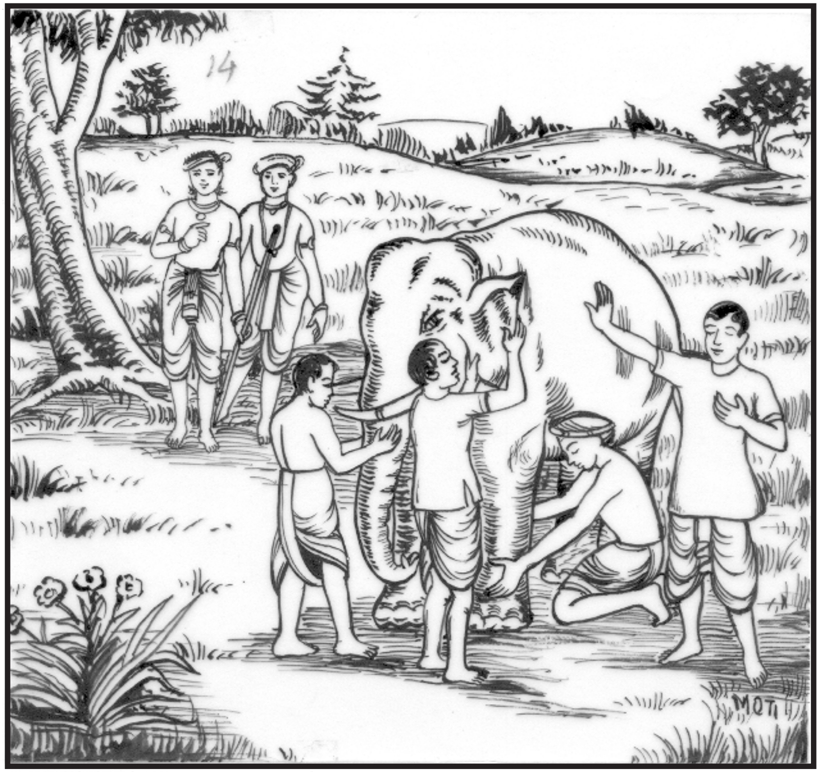
ईश्वर-स्वरूप के संबंध में कौन कह सकता है? जिन्होंने उनके दर्शन किए हैं। मान लीजिए, जितने लोग यहाँ बैठे हुए हैं, उनसे कहा जाय कि अमेरिका के संबंध में ठीक-ठीक कौन कह सकेंगे? वे ही कह सकेंगे जो अमेरिका गए हुए हैं। बाकी लोग तो किताबी ज्ञान अथवा सुनी सुनाई बात ही कह सकेंगे। उसी तरह जिनको ईश्वर के दर्शन नहीं हुए, उनसे ईश्वर-स्वरूप के संबंध में कहलाया जाय, तो वे क्या कहेंगे? जो उन्होंने श्रवण-मनन या अध्ययन किया है, पोथी-पोथे का वह थोथा ज्ञान ही कहेंगे। स्पष्टवादी संत कबीर साहब ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है-

ज्यों अंधरे की हाथिया, सब काहू को ज्ञान।
अपनी अपनी कहत है काको धरिये ध्यान।।
अंधरन को हाथी सही, हैं साचै सगरे।
हाथन की टोई कहै, आखिन के अंधरे।।

संत कबीर साहब ने एक कथा कही है- एक गाँव में एक हाथी चला गया। उस गाँव में कुछ ऐसे लोग भी बसते थे, जो जन्मान्ध थे। उनलोगों ने सुना कि गाँव में हाथी आया है। बड़े उल्लसित होकर वे लोग देखने चले और वहाँ पहुँचकर अपने-अपने हाथों से हाथी को टटोलने लगे। किसी ने उसकी पूँछ पकड़कर अन्य लोगों से पूछा- 'यही हाथी है?' उत्तर मिला- 'हाँ, यही हाथी है।' उसको हाथी की पूँछ का ज्ञान हुआ। दूसरे अंधे ने हाथी का पाँव पकड़ा और पूछा- 'यही हाथी है?' उत्तर मिला- 'हाँ, यही हाथी है।' उसको उसके पाँव का ज्ञान हुआ। तीसरे ने हाथी की सूँड़ पकड़ी और पूछा- 'यही हाथी है?' लोगों ने कहा- 'हाँ, यही हाथी है।' उसको हाथी की सूँड़ का ज्ञान हुआ। चौथे ने हाथी का कान पकड़ा और पूछा- 'यही हाथी है?' कहा गया- 'हाँ-हाँ, यही हाथी है।' उसको हाथी के कान का ज्ञान हुआ। इसी प्रकार

पाँचवें ने हाथी का पेट पकड़ा और पूछा– 'क्या यही हाथी है?' लोगों ने कहा– 'हाँ।' उसको हाथी के पेट का ज्ञान हुआ।

अब पाँचो अंधे वापस जाकर एक जगह इकट्ठे हुए, तो आपस में उनलोगों ने हाथी देखने की चर्चा चलायी। सबने एक स्वर में कहा– 'हाँ, हमने हाथी देखा है।' उनमें से किसी एक ने पूछा–'कहो, हाथी कैसा होता है?' जिसने पूँछ पकड़ी थी, उसने कहा–'हाथी लाठी जैसा होता है।' जिसने हाथी का पाँव पकड़ा था, उसने कहा– 'हाथी स्तम्भ जैसा होता है।' जिसने हाथी का कान पकड़ा था, उसने कहा– 'हाथी सूप-डगरा-जैसा होता है।' जिसने हाथी का पैर पकड़ा था, उसने कहा– 'नहीं जी, हाथी तो कोठी-जैसा होता है। जैसा कि धान-चावल रखने



की बड़ी कोठी होती है।' इस प्रकार वे सब आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। उसी समय एक नेत्रधारी सज्जन उधर से गुजर रहे थे। उन्होंने पूछा– 'भाई! आपलोग आपस में किसलिए झगड़ रहे हैं?' उनमें से एक ने कहा– 'देखिये न, बाबूजी! ये लोग मेरी बात मानते नहीं हैं। मैं कहता हूँ हाथी लाठी-जैसा होता है, तो यह कहता है– नहीं! हाथी स्तम्भ-जैसा होता है। तीसरा कहता है, हाथी सूप-डगरा-जैसा होता है।'

इसी भाँति क्रम-क्रम से सभी अंधों की बातों को सुनकर उक्त सज्जन ने कहा– 'मेरी बात सुनो! मैं तुमलोगों का झगड़ा समाप्त करता हूँ। देखो! तुमलोगों को आँख तो है नहीं। जो कोई कहते हो कि हाथी लाठी-जैसा होता है, वह हाथी की पूँछ है। जो कहते हो हाथी स्तम्भ-जैसा होता है, वह हाथी का पैर है। जो हाथी को सूप अथवा डगरा-जैसा बतलाते हो, वह हाथी की कान है। जो हाथी को कोठी-जैसा कहते हो, वह हाथी का पेट है, और तुम जो कहते हो कि हाथी ऊपर से मोटा और नीचे पतला होता जाता है, वह हाथी की सूँड़ है। ये सब हाथी के अंग हैं, अवयव हैं। इस प्रकार पूँछ, पैर, पेट, कान और सूँड़ इन पाँचों चीजों को मिलाने पर जो आकार-प्रकार, आकृति वा रूप होता है, उसको हाथी कहते हैं।'

उसी तरह हमलोग कहते हैं– ईश्वर है, ईश्वर है; लेकिन क्या ईश्वर इन्द्रियों का विषय है। किसी ने किसी इन्द्रिय से आजतक ईश्वर को देखा है? ईश्वर को देखनेवाली है केवल चेतन आत्मा। चेतन आत्मा ही ईश्वर को देख सकती है, परख सकती है, पहचान सकती है, उससे मिल सकती है अथवा साक्षात्कार कर सकती है। अन्य किसी में यह क्षमता नहीं है।

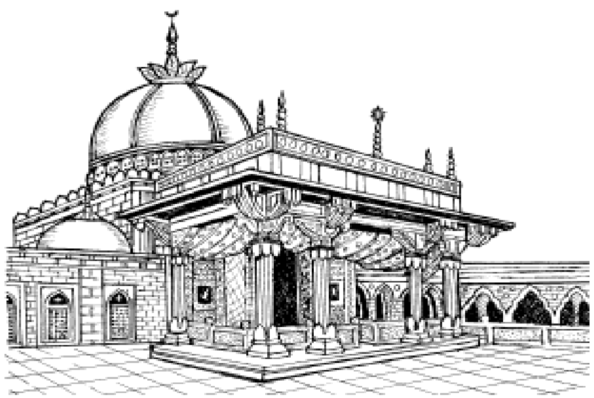
(शान्ति-सन्देश, जुलाई 1988 ई0)

र

13. धान से चाह नहीं मिटती

साधु-संत वे होते हैं– जिनके हृदय में लोभ क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता, मोह जिनको बेसोह नहीं कर सकता, जो किसी से डाह नहीं करते, बल्कि जो उनसे डाह करते हैं, उनकी वे परवाह नहीं करते। ऐसे निरहंकारी क्षमाव्रतधारी, पर-उपकारी, सदाचारी, ब्रह्मचारी होते हैं संत। वे झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार; इन पंच पापों का परित्याग और प्रभु-पद में अनुराग किये हुए होते हैं। वे अकामी होते हैं। उन्हें किसी प्रकार की कोई कामना नहीं होती। बहुत बड़े सेठ, राजा वा महाराजा होने से चाह मिट जाती है, ऐसी बात नहीं है। एक महात्माजी के व्याख्यान में मैंने यह आख्यान सुना था।

बादशाह अकबर के दरबार में एक फकीर साहब पहुँचे। उन्होंने सुन रक्खा था– बादशाह बड़े दानी हैं। जिस समय वे वहाँ पहुँचे, बादशाह के नमाज पढ़ने का समय था। वास्तव में जो टेकी मुसलमान होते हैं, वे निश्चित समय पर अवश्य नमाज पढ़ते हैं। बादशाह अकबर बड़े अच्छे टेकी मुसलमान थे। उन्होंने फकीर साहब से कहा– 'थोड़ी देर बैठा जाय, तैं जरा नमाज



गुजार लूँ, फिर आपकी खिदमत में हाजिर होऊँगा।'

बगल में ही उन्होंने चादर बिछा दी और नमाज पढ़ने लगे। नमाज गुजार लेने के बाद खुदा से दुआ के लिए अरदास करने लगे– 'या अल्लाह परवरदिगार! मुझे तन्दुरुस्ती दे। मेरी औलाद को खुशकिस्मत बना। मेरी फौज को कामयाबी दे। मेरी दौलत में बरक्कत कर आदि।' इस प्रकार प्रार्थना में वे कह रहे थे कि फकीर साहब वहाँ से उठकर चलते बने।

नमाज पूरा कर बादशाह ने देखा कि फकीर साहब नहीं हैं, तो वे इधर-उधर देखने लगे। मालूम हुआ कि फकीर साहब दरवाजे से निकलकर बाहर होने ही वाले हैं। वे अतिशीघ्र उनके निकट पहुँचकर नम्रतापूर्वक पूछने लगे– 'फकीर साहब! मुझसे क्या खता हो गयी, जो आप नाराज होकर चल दिए? आप तो आये थे मुझसे कुछ बात करने के लिए, फिर क्या बात हो गयी?' फकीर साहब ने कहा– 'खता तुमसे नहीं मुझसे हुई है। मैं तो सुनकर आया था कि तुम बड़े दानवीर हो, लेकिन यहाँ आने पर देखा कि तुम स्वयं भिखमंगे हो। किसी से मांग रहे हो। जो स्वयं किसी से मांग रहा हो, वह दूसरे को क्या देगा? जिससे तुम मांग रहे हो उसी से मैं भी मांग लूंगा। यही सोचकर मैं चलता बना।'

कहने का तात्पर्य यह है कि उतने बड़े बादशाह बनने पर भी उनकी मांग नहीं गयी। संतजन बादशाहों के भी बादशाह होते हैं। उनके अन्दर किसी प्रकार की मांग नहीं रहती। वे पूर्ण काम होते हैं। इसीलिए कबीर साहब ने कहा था–

चाह गयी चिन्ता मिटी मनुँवा बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिये, सोई शाहंशाह।।

(शान्ति-सन्देश, अगस्त 1988 ई0)

र

14. भक्त के दुःख से भगवान् द्रवित

यद्यपि प्रेम प्रकट करने की चीज नहीं है, फिर भी वह छिपाये छिपता भी नहीं है। प्रगट हो ही जाता है।

प्रेम छिपाया ना छिपे, जा घट परगट होय।

जो पै मुँह बोलै नहीं, तो नैन देत है रोय।। –संत कबीर

जब स्नेह की सरिता उमड़ती है, तो वह स्वामी से मिला, सुधारस पिला, जीवन मंगलमय कर देती है। इस विषय की परिपुष्टि के लिए मानस का यह प्रसंग बड़ा ही सरस एवं रोचक है। अशोक वाटिका में शोकाकुल श्रीसीताजी राम–विरह में व्याकुल हैं। असह्य पीड़ा से पीड़ित हो अब वे मृत्यु का आलिंगन करना ही चाहती हैं कि उसी समय पवनतनय से उनका प्रथम परिचय होता है। कुशल–प्रश्न के पश्चात् आर्त्त हो जानकीजी जिज्ञासा करती है–



हे हनुमानजी! श्री रघुनाथजी तो बहुत कृपालु हैं। उस कोमल चित्त में प्रभु ने किस कारण निठुराई धरी है। उनका तो सहज स्वभाव है कि वे सेवक को सुख देते हैं। हे कपि! कहो, क्या कभी वे मेरी याद भी करते हैं? इस प्रकार कहते–कहते उनका गला रुद्ध हो जाता है। वचन अवरुद्ध हो जाता है और उनकी आँखों से आँसुओं की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है। शोक–सागर में निमग्न जनक–दुहिता को इस भाँति दीन–दुखी देखकर समीरसुत के हृदय में करुणा उमड़ पड़ती है और वे विगलित स्वर में कहने लगते हैं–

मातु कुशल प्रभु अनुज समेता। तब दुख दुखी सो कृपा निकेता।।

जननी जन मानहु मन उना। तुम ते प्रेम राम कहँ दूना।।

और भी हे माताजी! प्रभु श्रीरामजी ने तुम्हारे लिए जो सन्देश भेजे हैं, वे अब धैर्य धारण कर सुनो– हे सीता! शीतल करनेवाली सभी वस्तुएँ तेरे वियोग में विपरीत हो गयीं। अर्थात् जो शीतल थीं वे जलानेवाली हो गईं। वृक्षों के नए–कोमल पल्लव अग्नि के समान लगते हैं। बादल मानों तप्त तेल बरसाते हैं। जिस वृक्ष के नीचे जाकर रहता हूँ, वह भी दुःख देता है। शीतल, मंद, सुगन्धित पवन सर्प की साँस के समान लगता है। कहने से कुछ दुःख घट जाता है। पर, किससे कहूँ? इस दुःख को जाननेवाला कोई नहीं। अधिक क्या कहूँ सीते, सुनो–

तत्व प्रेम कर मम अस तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।।

सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस इतनेहि माहीं।।

हे प्यारी! मेरे और तेरे प्रेम के तत्व को केवल एक मेरा मन जानता है। सो वह मेरा मन सदा तेरे पास रहता है। बस इतने में ही प्रीति का रस जान लेना। केशरीनन्दन के मुख से रघुनन्दन के प्रीति–वाक्य श्रवण कर सीता फूट–फूटकर रोने लगी। पुनः विलाप करती हुई कहती है– हे महावीरजी! श्री रघुनाथजी से मेरा प्रणाम

कहना और कहना–

मास दिवस महँ नाथ न आवै। तो पुनि मोहि जियत नहिं पावै।।

यदि एक मास में मेरे स्वामी आकर मुझे दर्शन नहीं देंगे तो फिर वे मुझे जीती नहीं पावेंगे। इसके समाधान में श्रीबजरंगबली जी भगवान् श्रीरामजी के बल–विक्रम, महिमा–विभूति का बखान कर विविध प्रकार से उनको ढाढ़स दिलाते हुए अन्तमें कहते हैं–

कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन सहित ऐहैं रघुबीरा।।
निशिचर मारि तुम्हहिं लै जैहैं। तिहु पुर नारदादि यश गैहे।।

यह प्रसंग सिद्ध करता है कि एक विरहिणी अपने प्रियतम के वियोग में किस प्रकार आकुल–व्याकुल होती है और उनको नहीं पाने पर अपने तन को तिनके के समान जान तजने के लिए तैयार हो जाती है। अन्तिम परिणाम यह होता है कि भगवान् श्रीराम आ मिलते हैं और सीताजी की सारी साध पूरी हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि भक्त को दुखी देखकर भगवान् से रहा नहीं जाता है और वे पल में प्रगट हो निहाल कर देते हैं। इस राम–कृपा को यदि हम आध्यात्मिक रूप देना चाहें तो इस प्रकार भी दे सकते हैं। सीता अर्थात् सुरत–चेतन आत्मा। राम अर्थात् आत्मा राम–परमात्मा। रामदूत– पवन–सुत अर्थात् सद्गुरु। प्रथमतः पवनसुत ने रामदूत बनकर दुःखी सीता को भगवान् श्रीराम का सन्देश दिया। पश्चात् विविध उद्योग करके दोनों का मिलन करवाया। इसी प्रकार सद्गुरु ईश्वरीय दूत बनकर दुःखी जीव को पहले तो ज्ञानोपदेश देते हैं, पीछे विविध साधनाओं द्वारा सर्वेश्वर का साक्षातकार करवाते हैं। (शान्ति–सन्देश, जुलाई 1985 ई0)

र

15. गोस्वामीजी की आसद्रि छूटी

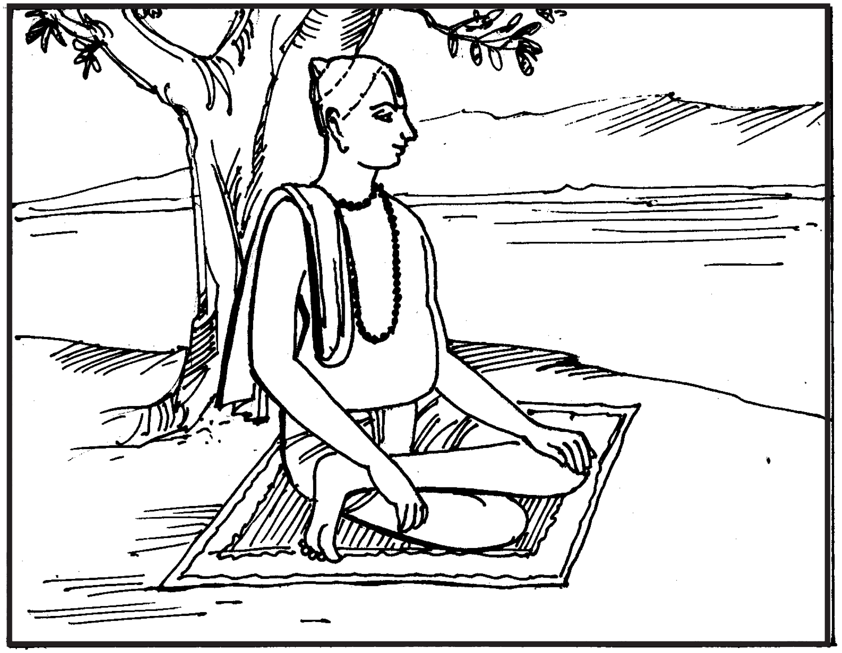
हम देखते हैं कामी का काम में अथवा चाम में और लोभी तथा कंगाल का दाम में गहरा प्रेम होता है। इसकी चर्चा हम संतों की वाणियों में भी पाते हैं। बल्कि वे वरदान मांगते हैं कि हे प्रभु! जिस प्रकार कामी पुरुष का कामिनी में और कामिनी का पुरुष में स्नेह होता है, वैसा ही नेह प्रभु, मेरा तुममें हो। अथवा लोभी और द्रव्यहीन की दाम में जैसी अनुरक्ति होती है, वैसी ही तुम्हारे श्रीचरणों में मेरी प्रीति–प्रतीति और भक्ति हो। संत कबीर साहब कहते हैं– *सुमिरण की सुधि यौं करौ, जैसे कामी काम।*
एक पलक बिसरै नहीं, पल पल आठो जाम।।
सुमिरण की सुधि यौं करौ, जैसे दाम कंगाल।
कह कबीर बिसरै नहीं पल पल लेहि सम्भाल।।

सम्प्रति गोस्वामी तुलसीदासजी यद्यपि पूर्ण योगी हैं, फिर भी जीवन के पूर्वार्द्ध में वे स्वयं उक्तभोग के भुक्तभोगी रह चुके हैं। कथा है कि गोस्वामीजी को अपनी भार्या से इतना घनिष्ठ प्रेम था कि उसके बिना वे रह नहीं सकते थे। संयोग से एक बार उनकी पत्नी पीहर चली गई। उनकी अनुपस्थिति इनके लिए असहनीय हो गई। मन में उथल–पुथल मचने लगा। उनके बिना इनका घर इनकी नजर में जहर मालूम पड़ने लगा।

अन्ततोगत्वा वे अपनी पत्नी से मिलने चल पड़े। मार्ग दूर था, रात हो गई। नदी पार करनी थी। किन्तु वहाँ तरणी नहीं थी। अपनी घरनी से मिलने के लिए इनको मरनी स्वीकार है। उमड़ती सरिता में तैरना चाहते हैं। अंधेरी रात है। हाथ को हाथ नहीं सूझता है। वहाँ एक लाश मिलती है। जिसके शरीर से यद्यपि कुवास निकलता है। फिर भी, इनको उसमें सुवास मालूम पड़ता है। क्योंकि पत्नी के प्रेमपाश में बंध चुके थे। येन–केन–प्रकारेण सरिता पारकर गृहणी के शयन–गृह पहुँचना चाहते हैं। घर का द्वार बंद था। खिड़की खुली थी। उसी ओर ये भागकर गए। किन्तु

वहाँ नाग लटक रहा था। विरह की आग में जलते रहने के कारण नाग को पकड़कर भीतर चले गए पर पता न चला।

सोई हुई पत्नी को जगाया। फिर क्या था? वह चौंक कर उठी और अप्रत्याशित अपने पति को पाकर चकित हो गयी। पश्चात् अपने पति से बोली– पतिदेव! जितना नेह आपको मेरी हाड़-मांस और मल-मूत्र से सनी अपवित्र देह में है, इतना स्नेह यदि भगवान् से हो पाता तो आपका परम कल्याण होता, आवागमन छूट जाता। इन शब्दों से पत्नी ने पति को जगाया। उनकी विवेक की आँखें खोलीं। फलतः अपनी पत्नी का परित्याग



कर पति भगवद्भजन करने चल पड़े। इस प्रकार गोस्वामीजी की मोह-निद्रा टूटी, विषय की आसक्ति छूटी और वे प्रेम-स्वरूपी प्रभु को पाने की लालसा लेकर उस पथ के पथिक बने।

र (शान्ति-सन्देश, अगस्त 1985 ई0)

16. जो देखे सो कहे नहीं

प्रभु को पानेवाली चेतन आत्मा है और उसे बतानेवाली वागिन्द्रिय है। जिसने जिसको कभी देखा नहीं, उसके संबंध में वह क्या बता सकती है? ऐसी स्थिति में ईश्वर के संबंध में क्या कहा जा सकता है? इस विषय में एक बड़ी अच्छी रोचक कथा स्मरण हो आयी है, सुनिए–

किसी जंगल में एक साधु बाबा अपनी झोपड़ी में बैठे हुए थे। एक व्याधे ने एक हिरण पर तीर चलाया। वह शर-विद्ध हिरण उस तीर की पीड़ा से विकल हो बेपीर भागने लगा और पास की एक झाड़ी में जा छिपा। साधु बाबा ने उस भागकर छिपते हुए हिरण को देखा।

इतने में ही वह व्याधा आकर उस साधु बाबा से पूछता है– 'बाबा! क्या अपने अभी एक शर-विद्ध हिरण को इधर से भागते देखा है?' साधु बाबा ने सोचा यदि मैं सच कहूँ, तो एक निरपराध हिरण की हत्या होगी और मुझे हिंसा का पाप लगेगा। यदि मैं मिथ्या भाषण करता हूँ तो भी पाप का भागी बनता हूँ। गो0 तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

नहिं असत्य सम पातक पूंजा। गिरि सम होहि कि कोटिक गुंजा।।

ऐसा सोचकर साधु बाबा बड़े धर्म-संकट में पड़ गए, किन्तु अविलम्ब ही उस प्रत्युत्पन्नमति साधु बाबा ने कहा– 'भाई व्याध! देखो, जिसने देखा है, वह तो बोल नहीं सकता और जो बोल सकता है, उसने देखा ही नहीं। मैं बतलाऊँ तो क्या?' तात्पर्य यह है कि देखा है नेत्र ने, यह बोल नहीं सकता। बोलनेवाला है मुँह, तो उसने देखा ही नहीं। ईश्वर के संबंध में भी ठीक इसी भाँति की बात है। संत कबीर साहब ने कहा है–



जो देखे सो कहे नहिं, कहे सो देखे नाहिं।
सुनै को समझावै नहीं, रसना दृग सरवन काहि।।

देखनेवाला कोई और है, और कहनेवाला कोई और। इसलिए जो कुछ कहा जाएगा, वह सही-सही कहा जायेगा, यह बात यथार्थ नहीं है। (शान्ति-सन्देश, जुलाई 1988 ई0)

17. सत्संग भगवान् का निज अंग

संतजन सन्मार्ग पर चलने के लिए सिखलाते हैं। संतवाणी सन्मार्ग दिखलाती है। इसलिए संतवाणी की, सत्संग की आवश्यकता है। यह सत्संग है क्या? गो0 तुलसीदासजी महाराज विनय पत्रिका में लिखते हैं-

देहि सत्संग निज अंग श्री रंग, भव भंग कारण शरण शोकहारी।

अर्थात् सत्संग प्रभु श्रीरंग का निज अंग है। भव-भंग का कारण तथा शरण शोकहारी है। एक लघु कथा सुनिए-



सीता हरण हो चुका था। भगवान् श्रीराम ससैन्य समुद्र के किनारे पहुँच चुके थे। पूल बनवा रहे थे। नल-नील मुख्य कारीगर थे। बन्दर, भालूगण वृक्ष, पत्थर, पहाड़ आदि ला-लाकर उनको देते थे और वे (नल-नील) अपने हाथ में लेते और पानी पर रख देते थे। जैसे ही वे पानी पर रखते थे, वह पत्थर, पहाड़ वा वृक्ष

पानी पर ज्यों-का-त्यों ठहर जाता था, नीचे डुबता नहीं था।

बंदर-भालुओं को यह देखकर बड़ा कौतुहल हुआ। वे दौड़कर भगवान् श्रीराम के पास गए और हाथ जोड़कर बोले– 'भगवन्! बड़ा आश्चर्य है! हमलोग बड़े-बड़े पहाड़ ला-लाकर नल-नील को देते हैं, ये पानी पर रखते हैं, पहाड़ नीचे डुबता नहीं है, पानी पर ही रह जाता है।' भगवान् भी तो बड़े कौतुहली होते हैं। वे भक्तों के कौतुहल को अनजाने से पूछते हैं– 'क्या यह सच बात है?' कपियों ने कहा– 'हाँ भगवन्! बिल्कुल सच है। चलिए न, हमलोग आपको दिखलाते हैं।'

भक्तों की बात मान भगवान् चलते हैं। वहाँ पहुँचकर



देखते हैं कि बन्दर-भालू, नल-नील को पहाड़ आदि देते हैं। वे हाथ में लेकर पानी पर रख देते हैं। वृक्ष, पहाड़ आदि पानी पर तैरने लगते हैं, ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं, डुबते नहीं। भगवान् ने पूछा– 'नल-नील! इतने वजन के पहाड़ आदि तुम पानी पर रखते हो, फिर भी ये पानी पर तैरते हैं, किस कारण से डुबते नहीं?' उन्होंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया– 'भगवन्! यह तो आपकी महिमा है। आपकी महिमा से ही पत्थर पानी पर तैरते हैं, नहीं तो कहीं पानी पर पत्थर तैरता।'

भगवान् ने कहा– 'यदि मेरी ही महिमा से पानी पर पत्थर तैरता है तो मैं जिस पत्थर को पानी पर रक्खूँगा, उसको नहीं डुबना चाहिए?' नल-नील ने कहा– 'भगवन् हाथ कंगन को आरसी क्या? एक पत्थर रखकर देख लिया जाय।' एक कपि ने पत्थर का एक टुकड़ा भगवान् के हाथ में दिया। उन्होंने उस टुकड़े को पानी पर छोड़ा, तो वह गड़गड़ाकर पानी के नीचे चला गया। भगवान् ने कहा– 'नल-नील! तुमलोग कह रहे थे– मेरी महिमा से पानी पर पत्थर तैरता है, तो मेरे हाथ का छोड़ा हुआ पत्थर पाताल कैसे चला गया?'

नल-नील ने हाथ जोड़कर कहा– 'भगवन्! यह तो जड़ पत्थर है। आपके हाथ से यदि चेतन ब्रह्मा भी छुट जाय, तो किस रसातल में चला जाए, ठिकाना नहीं।'

इसलिए सत्संग जो भगवान् का निज अंग है, उसको छोड़कर जो रहेगा, अलग होकर रहेगा, उसकी क्या दुर्दशा होगी ठिकाना नहीं।

(सत्संग प्रवचन, भागलपुर विश्वविद्यालय-प्रांगण, दि0 1.1.1989)

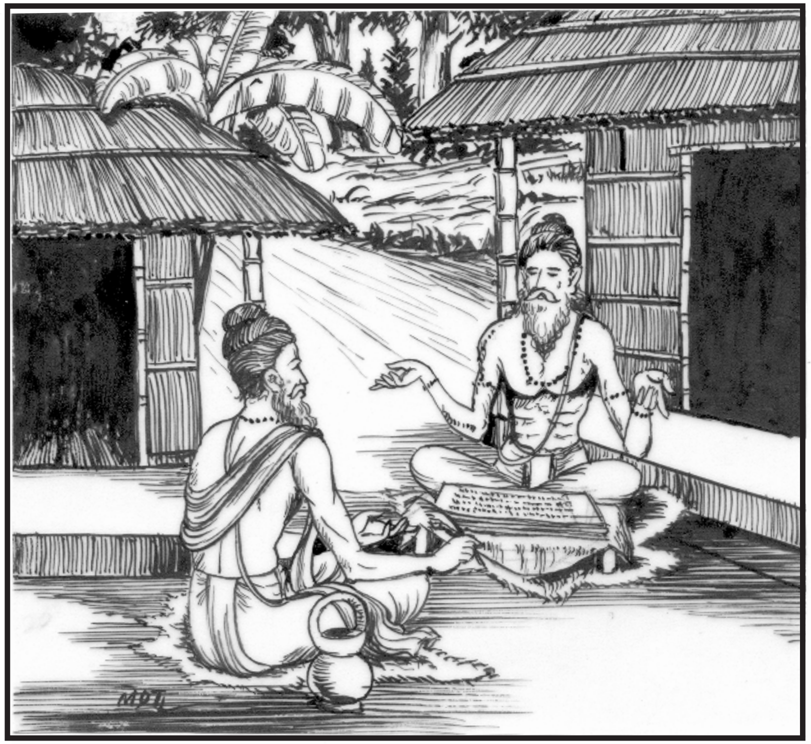
र

18. विद्वता से विकार नहीं जाता

भिक्षु जगदीश काश्यप बौद्ध जगत के सुप्रतिष्ठित महात्मा थे। काश्यपजी ने जब गुरु महाराज की शरण ग्रहण कर दीक्षा ली तो एक दिन ये गुरुदेव के निकट बैठे थे। विद्वान और चरित्रवान् के सन्दर्भ में चर्चा चल रही थी। हमारे गुरुदेव बोले–

पढ़ना गुनना चातुरी, यह तो बात सहल।
काम दहन मन वश करन, गगन चढ़न मुश्कल।।

यह सुनकर वे चौंक उठे और उन्होंने जिज्ञासा की– किनकी वाणी है महाराज। गुरुदेव ने कहा–'संत कबीर साहब की।' काश्यपजी ने उस साखी को पुनः दोहराने की कृपा की और कहा–'महाराज! अक्षरशः सत्य है। वास्तव में काम-दहन, मन-वशकरण और अर्न्तगमन-



आरोहण आसान काम नहीं।' एक कथा है–

श्री व्यासदेवजी श्रीमद्भागवत लिखते थे। और उनके शिष्य जैमिनीजी उसको देखते जाते थे। वे बड़े विद्वान थे। मीमांसा के आचार्य थे। श्रीमद्भागवत में व्यासदेवजी ने लिखा था, बलवान् इन्द्रिय ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।' अर्थात् इन्द्रियाँ इतनी बलवती होती हैं कि वह विद्वानों को भी आकर्षित कर लेती हैं। यह पढ़कर जैमिनीजी ने कहा– 'गुरुदेव! यह पंक्ति ठीक नहीं जँचती है। इसको ठीक से पुनः देख लिया जाय। यहाँ तो ऐसा होना चाहिए– 'बलवान इन्द्रियग्रामो विद्वांसनापि कर्षति।' अर्थात् बलवान इन्द्रियग्राम विद्वानों को आकर्षित नहीं कर सकती। व्यासदेवजी ने मन में सोचा, केवल वचन द्वारा समझाने पर ये मेरी बात स्वीकार नहीं करेंगे। इसलिए उन्होंने एक लीला की। कहा– 'अच्छा मैं थोड़ा घूमकर आता हूँ। तुम यहाँ बैठो।'

इतना कहकर वेदव्यासजी चले गए और उन्होंने माया रची। जोरों का आंधी-तूफान ले आए। होता क्या है– एक षोड्शी जो देखने में बहुत सुन्दर थी, वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर, वर्षा-पानी में भींगती हुई वहाँ आती है। जेमिनी ने कहा– 'तुम यहाँ क्यों भींग रही हो! भीतर चली आओ।' उसने कहा– 'पुरुषों पर मुझे विश्वास नहीं होता।' जैमिनीजी ने कहा– 'मेरे जैसे पुरुष पर भी नहीं! जानती हो मैं कितना बड़ा विद्वान हूँ। मिमांसा का आचार्य हूँ। श्रीव्यासदेवजी के लिखे महापुराणों को पढ़-पढ़कर ठीक कर रहा हूँ। चली आओ।' वह भीतर चली आती है। काम ने किसको बदनाम नहीं किया। उस युवती के सौन्दर्य को देखकर इन्द्रियाँ बलवती हो उठीं। इन्होंने अपनी दुर्बलता उसके सामने रखी। उस युवती ने कहा– 'अवश्य ही मेरी शादी अभी नहीं हुई है, मैं आपसे शादी कर लूंगी। मेरा अहोभाग्य है! आप जैसे विद्वान, इतने बड़े तपस्वी के साथ मेरा विवाह

होगा। लेकिन मेरे कुल की एक रीति है। यदि उसका आप पालन कीजिए, तो मैं आपसे शादी करने के लिए तैयार हूँ।' जैमिनीजी ने जिज्ञासा की– 'तुम्हारे कुल की क्या रीति है?' युवती बोली– 'हमारे कुल की रीति यह है कि जिस लड़के के साथ लड़की का विवाह होता है, उसको घोड़ा बनना पड़ता है और लड़की उसके मुँह में लगाम लगाकर उस घोड़े पर सवार होती है। इसी तरह से दोनों ही देव-मन्दिर जाकर देवता को प्रणाम करते हैं। इस प्रकार शादी होती है। आप घोड़ा बनिए। मैं लगाम लगाऊँगी। आपके ऊपर चढ़कर देव-मन्दिर जाऊँगी, देवों को प्रणाम करके लौटूंगी, फिर शादी हो जाएगी।'

जैमिनीजी ने देखा– यहाँ कोई नहीं है। सोचा, थोड़ी देर के लिए घोड़ा बन ही जाऊँ तो क्या हर्ज है। शादी तो हो जाएगी। इधर-उधर देखकर वे घोड़ा की तरह बन गए। लड़की लगाम लगाकर उसकी पीठ पर बैठ गयी और देव-मन्दिर चली। वहाँ पहुँचने पर देखते हैं कि पहले से ही बरामदे पर व्यासदेव जी बैठे हुए हैं। व्यासदेव जी ने पूछा– 'कहो जैमिनी! कहाँ जा रहे हो? तुम्हारी बात ठीक है या मेरी बात?' लज्जा के मारे जैमिनीजी सिर झुका लेते हैं और दबी जबान में कहते हैं– 'गुरुदेव! आप ही का वचन ठीक है।'

इस कथा का तात्पर्य क्या हुआ? कोई कितना भी बड़ा विद्वान क्यों न हो जाए, उसके पास कोई हथियार नहीं है कि वह विकार को काटकर निकाल सके। विकार को काटने के लिए साधना है। जब तक कोई अन्तःसाधना नहीं करेगा, आत्मस्वरूप की पहचान नहीं होगी। स्वरूप ज्ञान-विहीन होने से वह मन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता और मन पर विजय प्राप्त किए बिना वह षट्विकारों का शिकार होता रहेगा।

(शान्ति-सन्देश, फरवरी 1989 ई0)

19. नरक और स्वर्ग क्या है?

यह घटना जापान की है। जापान में एक महात्मा अपने आसन पर आसीन थे। एकाएक उनके पास एक नवयुवक आता है, जिसके चेहरे पर जवानी का पानी चढ़ा हुआ था। वास्तव में चेहरा भी बहुत लासानी था। आसानी से वह साधु के पास पहुँच गया। जवान तो वह जरूर था, लेकिन उसकी जबान में लगाम नहीं थी। हाँ जिसको आजकल लोग 'हीरो' कहा करते हैं, वैसा ही था। 'हीरो' कहने का मतलब– जो आध्यात्मिकता में बिल्कुल जीरो हो। ऐसे लोग प्रणम्य जन को भी प्रणाम नहीं करते; क्योंकि प्रणाम कहने में वे पाप समझते हैं, चाहे उनका बाप ही क्यों न हो!

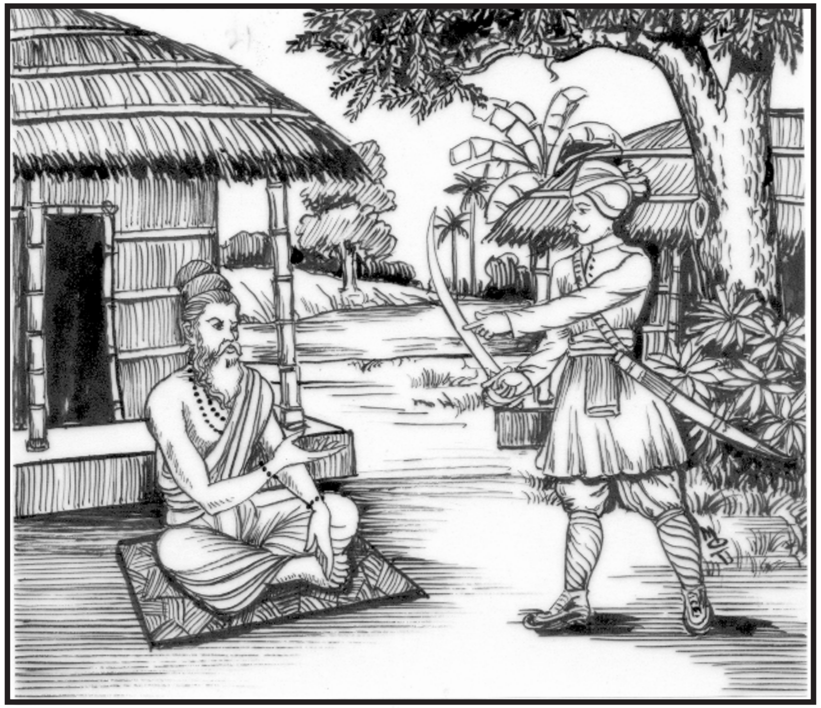
आते ही मूँछ पर हाथ देकर वह पूछ बैठा– 'महात्मन्! स्वर्ग और नरक क्या है?' महात्माजी ने उस नवयुवक को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर तक देखकर पूछा– 'पहले बताओ, तुम कौन हो?' नवयुवक ने कहा– 'मैं फौज का लेफ्टिनेंट हूँ।' महात्माजी ने पुनः उसे आपादमस्तक देखा और कहा– 'तुम अपने को फौज का लेफ्टिनेंट बतलाते हो, लेकिन मेरे विचार में तो तुम लेफ्टिनेंटके असिस्टेन्ट के सरभेन्ट होने योग्य भी नहीं हो।'

फिर क्या था! उस नवजवान की क्रोधाग्नि भड़क उठी और उसने म्यान से तलवार निकालकर महात्माजी के सर को धड़ से अलग कर धरा पर धर देना चाहा। लेकिन तलवार के वार को महात्माजी ने सम्भालकर कहा– 'अच्छा! तेरे पास तलवार भी है। लेकिन तेरी तलवार तो एक तिनके को भी नहीं काट सकती, फिर मेरे तन की तो बात ही क्या है।' जैसे आग में घी डाला जाय, उसी तरह महात्माजी का वचन उसकी क्रोधाग्नि में घी के रूप

में पड़ गया। पुनः उस नवयुवक ने क्रोधित होकर दुबारा उनपर वार करना चाहा। महात्माजी ने पुनः उसकी तलवार को पकड़कर प्रेम से कहा– 'बस! मैं तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे रहा था। तुम देश के भावी युवक हो, तनिक-सी बात में तुनक जाना तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं।' तुमने मुझसे पूछा था– 'नरक और स्वर्ग क्या है?' अभी तुम नरक के द्वार पर हो; क्योंकि जब जिसके हृदय से दया निकल जाती है, काम, क्रोधादिक किसी विकार का जब शिकार हो जाता है, दम्भ, दर्प, अभिमान, निष्ठुरता एवं अहंता से घिर जाता है, तब वह नरक के द्वार पर खड़ा होता है।

गोस्वामीजी ने रामचरित मानस में लिखा है–

'काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक कर पन्थ।' तथा श्री



मदभगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के ये वाक्य हैं–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतम् त्रयं त्येजेत्।।

पढ़ा-लिखा तो वह था ही। संत-वचन सुनते ही वह महात्माजी के श्रीचरणों में अपना सिर रख दिया और अपने अश्रुजल से उनके चरणों को धोने लगा। पहले हृदय में क्रोध की आग लगी थी न! अब वह पश्चाताप के कारण वाष्प, फिर जल बनकर महात्माजी के युगल कमल का प्रक्षालन करने लग गए।

महात्माजी ने उसकी विनयशीलता देखकर उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा– 'वत्स! अब तुम स्वर्ग के द्वार पर हो। तुम्हारे हृदय से क्रूरता चली गयी, निष्ठुरता चली गयी, अहंता चली गयी। कर्त्तव्याकर्त्तव्य को, जो तुम भूल गए थे, समझने लग गए। तुम्हारी तमोगुणीवृत्ति सतोगुणीवृत्ति में परिणत हो गयी। अब तुम स्वर्ग के द्वार पर हो।'

इस प्रकार स्वर्ग और नरक का ज्ञान महात्मा जी ने उस युवक को दिया (सत्संग-प्रवचन, मिर्जापुर दिनांक 12.3.1989)

र



20. ईश्वर अच्छा ही करते हैं

हमारे पूज्य गुरुदेवजी महाराज कहा करते थे– 'पहले एकाग्रतापूर्वक मानस जप करो। उसके बाद मानस ध्यान करो। इससे दृष्टि साधन क्रिया करने की योग्यता होगी । दृष्टि साधन की क्रिया में कुशल होने पर नादानुसंधान करने की क्षमता प्राप्त होगी। नादानुसंधान करते-करते सारशब्द के सहारे परम प्रभु परमात्मा में मिल जाओ। यह सरल साधन क्या गृहस्थ, क्या विरक्त सबके लिए एक समान है। साथ ही, एक ईश्वर पर उन्होंने विश्वास करने को कहा और कहा– 'जहाँ तुम्हारा कोई सहायक नहीं होगा, वहाँ एक ईश्वर सहायता करेगा।

एक थे राजा, उनको एक मंत्री था। वह ईश्वर-विश्वासी था।



अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रत्येक परिस्थिति में वह यही कहा करता था कि ईश्वर जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं। राजा शिकार खेलने जाते तो मंत्री को भी साथ ले जाते थे। एक दिन राजा शिकार खेलने गए। उन्होंने शिकार पर जो हथियार चलाया, उससे उनकी अपनी ही अंगुलि कट गयी। राजा ने मंत्री को कटी हुई अंगुलि दिखाते हुए कहा– 'देखिए मेरी अंगुलि कट गयी है।' मंत्री ने कहा– 'ईश्वर जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं। इसमें चिन्ता की क्या बात है। किसी भले के लिए ही उन्होंने ऐसा किया है।'

मंत्री के वचन से राजा को बहुत दुःख हुआ। उन्होंने क्रोधावेश में मंत्री से कहा– 'अपने घर चले जाओ, ऐसे मंत्री की मुझे आवश्यकता नहीं है।' मंत्री घर चला गया। वहाँ ही वह रहने लगा। अंगुलि का घाव छुट जाने पर राजा फिर शिकार खेलने गए। शिकार के पीछे घोड़ा दौड़ाते-दौड़ाते वे ऐसे घनघोर जंगल में प्रवेश कर गए, जहाँ डकैतों का गिरोह रहता था। उनलोगों ने राजा को पकड़ लिया और कहा– 'देखो! काली माँ की महिमा! हम लोगों ने उनको एक नर-बलि देने की मनौती मानी थी, सो देखो! उन्होंने कितना सुन्दर नर भेज दिया है।' ऐसा कह उनलोगों ने राजा के वस्त्राभूषणों को उतारकर उसे नहलाया। नयी धोती पहनायी और बलिवेदी पर लाकर तलवार से गला उतारना चाहा। इतने में एक डकैत की नजर राजा की कटी अंगुलि पर पड़ी। उसने कहा– 'ठहरो-ठहरो, इसे मत मारो। इसका अंग पहले से ही भंग है। अंग-भंग की बलि नहीं दी जाती।' डकैतों ने राजा को छोड़ दिया।

राजा ने घर लौटकर सोचा, मंत्री बहुत अच्छा आदमी है।

उसने उस दिन ठीक ही बात कही थी– ईश्वर जो कुछ करते हैं भले के लिए ही करते हैं। यदि मेरी अंगुलि कटी हुई नहीं होती, तो आज मेरा गला कट जाता। ऐसा विचार कर राजा ने मंत्री को बुला लिया और जंगल में घटी घटना की सारी बातें सुनाकर पुनः मंत्री पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। पश्चात् राजा ने मंत्री से पूछा– 'एक बात बतलाओ, तुमने जो उस दिन कहा– ईश्वर जो कुछ करते हैं, अच्छा ही करते हैं, भले के लिए ही करते हैं, मैंने मान लिया कि यदि उस दिन मेरी अंगुलि नहीं कटी होती, तो मेरा गला कट जाता। इसमें तो मेरा अवश्य ही भला हुआ, लेकिन ईश्वर ने तुम्हारी क्या भलाई की? इतने दिनों की तनख्वाह तुमको नहीं मिली।'

मंत्री ने विनीत भाव से कहा– 'राजन्! अवश्य ही इतने दिनों का वेतन मुझको नहीं मिला, लेकिन मेरी जान तो बची। जान है तो जहान है। यदि जान नहीं तो धन क्या काम आवेगा? उस दिन यदि आप मुझे नौकरी से नहीं हटाए होते, तो शिकार खेलने आप गए तो मुझे भी साथ ले ही जाते। अंग-भंग तो आपका था, मेरा तो नहीं था, उस दिन आपके बदले मेरा ही गला कट जाता। नौकरी के पैसे ही तो नहीं मिले, गला तो बचा। राजा ने देखा, ठीक ही मंत्री ईश्वर-विश्वासी है। उसने प्रसन्न होकर उनको पूरा वेतन दे दिया। मंत्री ने कहा राजन्! देखिए ईश्वर की कृपा। बिना नौकरी किए पैसे भी मिले और जान भी बची।' पुनः राजा ने अति प्रसन्न होकर बहुत पुरस्कार देकर पुरस्कृत किया।

जो ईश्वर पर आस्था रखते हैं, ईश्वर उनकी व्यवस्था करते हैं। इसलिए एक ईश्वर पर विश्वास रखना चाहिए।

(सत्संग प्रवचन : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर दि0 **18.07.1989** ई0)

र

21. अध्यात्म-विद्या भी जानें

एक अच्छे पढ़े-लिखे बाबू थे। उनको नदी पार करनी थी। वे नाव पर बैठ गए और नाविक नाव खेने लगा। बाबू ने पूछा– 'बताओ जी! तुम कहाँ तक पढ़े हो?' नाविक ने कहा– 'बाबू जी! मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ। मेरे पिताजी नाव चलाते थे। वही नाव चलाने की और तैरने की विद्या मैं जानता हूँ।' बाबू ने कहा– 'जा तेरा 1/4 जीवन व्यर्थ ही चला गया।' नाव कुछ आगे बढ़ी। आकाश में तारे निकल आए थे। तारों को देखकर बाबू ने पूछा– 'अच्छा, बताओ नक्षत्र विद्या जानते हो?' नाविक ने कहा– 'बाबूजी! इन सब बातों को पूछकर दिमाग क्यों खराब करते हैं? यदि ये विद्याएँ मुझे ज्ञात होतीं तो नाव खेकर जीवन-यापन क्यों करता। मैं यह सब नहीं जानता।' बाबू ने कहा– 'जा, तेरा आधा जीवन व्यर्थ चला गया।' नाव और आगे बढ़ी। जब किनारे लगने में थोड़ी ही दूरी बची थी। नदी के उस पार का जंगल का दृश्य बड़ा सुहावना लग रहा था। कहीं इधर से उधर झुण्ड-के-झुण्ड हिरण चौकड़ी भरते जा रहे थे, कहीं मयूर नृत्य कर रहे थे। बाबू ने पुनः नाविक से पूछा– 'जीव विज्ञान जानते हो?' मल्लाह ने उत्तर दिया– 'नहीं जानता। मैंने तो पहले ही कह दिया; नाव खेने और तैरने के लिए जानता हूँ। इसके अतिरिक्त और तीसरी विद्या मैं नहीं जानता।' बाबू ने कहा– 'जा तेरा 3/4 जीवन व्यर्थ चला गया।' देखते-ही-देखते एकएक आँधी आ गई। नाव जोरों से डगमगाने लगी। उसमें पानी आने लगा। हवा के झोके में पड़कर नाव चट्टान से टकरा गयी। नाव के नीचे का एक तख्ता टुट गया। अब नीचे से भी नाव में पानी आने लग गया। नाविक ने कहा– 'बाबू जी! आप तैरने के लिए जानते हैं?' बाबू ने कहा– 'तैरने के लिए तो मैं नहीं जानता।' नाविक बोला– 'बाबू! मेरा तो 3/4 जीवन व्यर्थ चला गया था, मात्र 1/4 बचा था। उसी जीवन के सहारे मैं तैरकर पार हो जाता

हूँ और आपका तो सारा जीवन ही व्यर्थ चला गया।' यह कहकर वह नदी में कूद पड़ा और तैरकर पार हो गया। वे बाबू बेचारे नदी में डूबकर दुनिया से चल बसे।



इस संदर्भ में किसी कवि की उक्ति बड़ी युक्तियुक्त मालूम पड़ती है— *जीवन पौन नष्ट है मेरा, विविध ज्ञान बिन जाने।*

पूरा नष्ट आपका बाबू, बिना तैरना जाने।।
आत्म ज्ञान के बिना न मानव, भव सागर तर पाता।
विविध ज्ञान संग्रही यहाँ है, अविरल गोते खाता।।

अनेक विद्याओं के ज्ञाता होने पर भी तैरना नहीं जानते थे, तो डूबकर मरना पड़ा। उसी तरह भौतिक विद्या के प्रकाण्ड विद्वान हो जाने पर भी आत्मज्ञान के बिना कोई संसार-सागर को पार नहीं कर सकता, आवागमन के चक्र से नहीं छूट सकता।

(शांति-सन्देश, सितम्बर 1989 ई0)

22. अंतस् की सफ़ाई

एक दिन चीनी अपनी सहेली से बोली— 'बहन! मुझसे बढ़कर अधिक साफ कौन है?' सहेली ने उत्तर दिया— 'सुनो बहन! अपनी गन्दगी अपने को दीखती नहीं है, अपने को तो दूसरे की गन्दगी सूझती है। लोग अपने को बराबर पाक-साफ समझते हैं और दूसरे पर अंगुलि उठाते हैं। संत तुलसीदासजी महाराज ने कहा है—

देखिके पर दोष रज सम, कहत गिरि सम सोय रे।
दोष अपने मेरु सम हैं, तिन्हें राखत गोय रे।।

सुनो! एक जापानी कहानी सुनाता हूँ— एक लड़की की शादी हुई। जब वह अपनी ससुराल जाने लगी तो माँ ने उससे कहा— 'बेटी! मेरी एक बात याद रखना। जब कोई तुम्हारी निन्दा करे, तुम पर ऊंगली उठाए, तो देख लेना कि उसकी अंगुली तुम्हारे ऊपर ठीक बैठती है या नहीं? यदि ठीक बैठती है यानी सचमुच ही तुममें दुर्गुण है— दोष है, तो तुम अपने को संभाल लेना— सुधार लेना; यदि नहीं तो यह समझ लेना कि वह तुमसे तीन गुणा अधिक अपने को दोषी साबित करता है; क्योंकि जब कोई किसी की ओर अंगुली करता है, तो उसकी मात्र एक अंगुली दूसरे और तीन अंगुलियाँ अपनी ओर ही इंगित करती है। इसलिए तुम किसी की बुराई मत करना। और एक बात समझो— दूसरों की ओर दिखाई जानेवाली अंगुली टेढ़ी-मेढ़ी भी हो सकती है; किन्तु उसकी अपनी तरफ की अंगुलियाँ तो टस-से-मस नहीं हो सकती; क्योंकि उन अंगुलियों को दृढ़ता के साथ अंगूठा पकड़े रहता है।' हाँ तो वह चीनी कह रही थी कि देखो, मैं कितनी साफ हूँ! सहेली ने कहा— 'मैं अभी दिखला देती हूँ कि तुम कितनी साफ हो।' उसने चीनी को पानी में घोल दिया और चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे से आँच देना शुरु किया। जैसे-जैसे पानी गर्म होने लगा, बर्त्तन के ऊपरी हिस्से पर

मैल तैरने लगी। सहेली ने कहा– 'अब बताओ बहन! तुम तो कहती थी ना कि तुममें मैल नहीं है, तुम बहुत साफ हो, अब कहो सही बात क्या है?' चीनी ने कहा– 'हाँ बहन! मुझे तो यह मालूम ही नहीं था। अब इस मैल को निकाल दो।' सहेली ने दूध का छीटा दिया और मैल छँटकर अलग निकल गया।



उसी तरह हम समझते हैं कि हमारा मन पवित्र है, साफ है। पर जब हम उसे ध्यान रूपी चुल्हे पर गर्म करते हैं, तब उसकी गंदगी सामने आती है। जन्म–जन्मान्तर से संचित कुविचार मन में आने लगते हैं। उन कुविचारों को बारंबार हँटाते हुए साधाक जब अपने मन को लक्ष्य पर स्थिर करता है तब धीरे–धीरे उसके अंतस् की सफाई होती है।

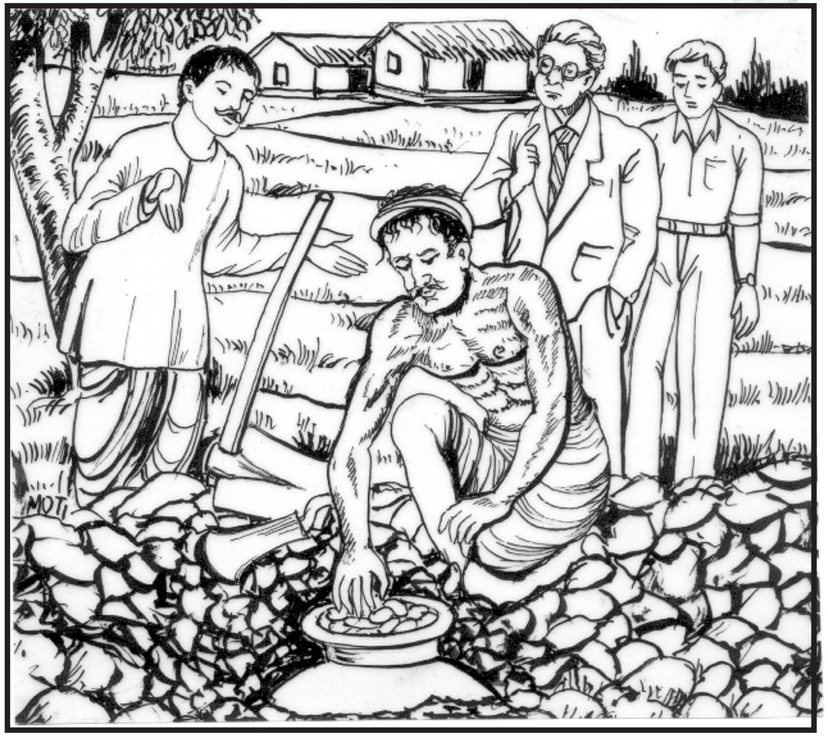
(शान्ति–सन्देश, नवम्बर–दिसम्बर 1988 ई0)

23. अर्स्फी का घड़ा

चित्त की एकाग्रता दसवें द्वार में होती है। इस दसवें द्वार का पता संत बतलाएँगे। वहीं से चलना होता है अपने प्रभु के पास। आप भी वहीं हैं, कहीं दूसरी जगह नहीं है। अगर उसको हम पालें, तो मालोमाल हो जायँ, लेकिन हम उधर चल नहीं रहे हैं। विषयों की ओर दौड़ रहे हैं। इसलिए हम कंगाल बने हुए हैं।

एक भिखारी था। भीख मांगकर खाता था और एक ही जगह पर आकर रहता था। उस एक स्थान पर उसको रहते हुए वर्षों बीत गए। होते–होते एक दिन शरीर उसका छूट जाता है। अकेला ही था। शरीर छूट जाने पर नगरपालिका की ओर से आदमी भेजकर उसकी लाश को गंगाजी में प्रवाहित कर दिया जाता है। नगरपालिकावालों ने सोचा, वह भिखमंगा भीख मांगकर खाता था। न जाने कैसा–कैसा वह अन्न खाता था। जहाँ इतने दिनों से वह बैठता था, वहाँ की मिट्टी अशुद्ध हो गई। इसलिए दो–चार हाथ मिट्टी खोदकर फेंक देनी चाहिए। जहाँ पर वह बैठता–सोता था, उतनी लम्बी–चौड़ी और चार हाथ गहरी मिट्टी खोदकर फेंकने लग गए। फेंकते–फेंकते जब चौथा हाथ मिट्टी खोदने लग गए, तो वहाँ एक घड़ा मिला, जिसमें असर्फियाँ भरी हुई थीं। अगर उस कंगाल को यह मालूम होता कि जहाँ मैं बैठता हूँ, वहीं पर असर्फी का घड़ा है, तो वह कंगाल नहीं रहता। उसी तरह से जहाँ हम बैठे हुए हैं, वहीं पर चार हाथों की दूरी पर परमात्मा रूपी असर्फी का घड़ा पड़ा हुआ है। अंधकार, प्रकाश, शब्द और निःशब्द– वे चार हाथ हैं, तीन हाथ पार कीजिए, चौथे हाथ पर वह घड़ा मिल जाएगा। फिर तो मालोमाल हो जायेंगे। संत कबीर साहब ने कहा–

लाल-लाल जो सब कोइ कहे, सबकी गाँठी लाल।
गाँठी खोलि के परखै नाहीं, तासे भयो कंगाल।।
लाली मेरी लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।।



उसको खोजिए। जहाँ बैठे हुए हैं आप, वहीं से चलिए। होता क्या है? चलना हम चाहते भी हैं; लेकिन चल नहीं पाते हैं। किसी-किसी को तो पता ही नहीं है। जिस किसी को पता है तो वह समय देना ही नहीं चाहता। भगवान् बुद्ध ने तो कहा है कि संसार में मनुष्य-शरीर पाना दुर्लभ है। जीवित रहकर भी सद्धर्म-श्रवण करना दुर्लभ है। सद्धर्म-श्रवण करके भी उसका आचरण दुर्लभ है।

र (शान्ति-सन्देश, फरवरी 1990 ई0)

24. साँच-साँच सो साँच है

सर्वसाधारण के साथ दुष्टों का ईर्ष्या-व्यवहार तो सदा से रहा ही है, साथ ही संत-महात्माओं के साथ भी इन्होंने कम धृष्टता नहीं की है।

बौद्धकालिक एक अत्यन्त रोमांचकारी कहानी है कि जब भगवान् बुद्ध के सिद्धत्व की प्रख्याति दूर-दूर तक फैल गयी और लोग उनको तथा उनके भिक्षु संघ को पूज्य दृष्टि से देखने लगे, उन्हें चीवर, पिण्डपात और ग्लान प्रत्यय देकर सत्कारादि करने लगे, तो दूसरे मत के साधु लोग, जिनका कोई आदर-सत्कारादि नहीं करते, बौद्ध भिक्षुओं से ईर्ष्या भाव कर मन-ही-मन जलने लगे। उनकी यह जलन दिनानुदिन बढ़ती ही गई। एक समय की बात है कि भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। दूसरे मत के दुष्ट साधुओं ने जहाँ सुन्दरी नाम की परिव्राजिका रहती थी, वहाँ जाकर कहा- 'बहन! मुझ भाइयों की तुम कुछ भलाई कर सकती हो? बेचारी सरला सुन्दरी दुष्टों की दुष्ट प्रकृति से बिल्कुल अनभिज्ञ थी। अपने शुद्ध सात्विक हृदय को जानती थी, बोली- 'भाई! मैं किस योग्य हूँ, मुझसे आपकी क्या सेवा हो सकती है? यदि मुझसे आप भाइयों की भलाई हो, तो मैं अपनी जान देने को तैयार हूँ।' उन दुष्ट साधुओं ने कहा- 'तो बहन! त्वरित जेतवन चलो।' भोली-भाली सुन्दरी तुरन्त जेतवन के लिए चल पड़ी। मार्ग में कहीं एकान्त पाकर, उन दुष्टों ने सुन्दरी का प्रणान्त कर जेतवन के समीप एक गढ़े में उसकी लाश को छिपा दिया और कोशलराज प्रसेनजित से जाकर कहा- 'महाराज! भिक्षु संग की सुन्दरी परिव्राजिका आजकल दिखाई नहीं देती है।' प्रसेनजित ने कहा- 'तो इसकी खोज कीजिए। दुष्ट साधु जेतवन के निकट जाकर उस गढ़े से उक्त लाश को निकालकर बांस के ठट्ठर पर उठाकर श्रावस्ती लाए

और उसे एक गली से दूसरी गली और एक चौराहे से दूसरे चौराहे पर ले जाकर लोगों को दिखाने लगे और यह कहकर भड़काने लगे कि भाइयों! बौद्ध भिक्षुओं (शक्य पुत्रों) की करतूत देखो! ये बौद्ध भिक्षु कितने निर्लज हैं, दुःशील हैं, पापी हैं, झूठे हैं, व्यभिचारी है। लोग इन्हें महात्मा, धर्मात्मा, संयमी, ब्रह्मचारी, सच्चे शीलवान, पुण्यवान् समझ बैठे हैं। न तो इनमें श्रमण-भाव है और न निष्पापता। इनके श्रमणभाव और निष्पापता सभी नष्ट हो चुके हैं। व्यभिचार करने के बाद हत्या कर डालना कितना जघन्य कर्म है? इस प्रकार दुष्ट साधुओं ने झूठा प्रचार करके बौद्ध भिक्षुओं के प्रति लोगों में अश्रद्धा पैदा कर दी।

कुछ समय श्रावस्ती के लोग बौद्ध भिक्षुओं को देखकर उनसे बहुत बुरा सलूक करते, उन्हें असभ्य, निर्लज्ज, पतित आदि



कहकर दुत्कारते, धिक्कारते और गालियाँ देते थे। कहते कि व्यभिचार करने के बाद स्त्री को मार डालना उचित नहीं था। ऐसी विषम परिस्थिति को देख कुछ बौद्ध भिक्षु भगवान् बुद्ध के पास गए और उनका अभिवादन कर निवेदन किया कि भन्ते! आजकल श्रावस्ती के लोग भिक्षुओं को देखकर उन्हें ओछी बातें कहते हैं– 'बौद्ध भिक्षु निर्लज्ज हैं........ व्यभिचार करने के बाद स्त्री को ....।'

भगवान् ने कहा– 'भिक्षुओ! यह बात बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। एक सप्ताह भर रहकर उसके बाद बंद हो जाएगी। और जो भिक्षुओं को देखकर गालियाँ दें, उन्हें तुमलोग इस गाथा से उत्तर दो– 'झूठ बोलनेवाले नरक में जाते हैं और वे भी जो कि करके कहते हैं, मैंने नहीं किया, मृत्यु के बाद परलोक में दोनों की समान गति होती है।' तत्पश्चात् जो कोई बौद्ध भिक्षुओं को देखकर गालियाँ देते, तो बौद्ध भिक्षु उपर्युक्त गाथा कहकर उत्तर देते। बौद्ध भिक्षुओं के मुँह से इस तरह की बातें सुनकर लोगों के मन में हुआ कि इन भिक्षुओं ने ऐसा कर्म नहीं किया होगा। ये लोग बराबर सौगन्ध खातें हैं। धीरे-धीरे एक सप्ताह में यह बात समाप्त हो गयी। लोगों को विश्वास हो गया कि बौद्ध भिक्षुओं का यह काम नहीं है। भिक्षुओं के प्रति लोगों में पुनः पूर्ववत् श्रद्धा पैदा हो गयी और फिर वे लोग उनका आदर सत्कारादि करने लगे। दुष्टों के मुँह पर अमिट कालिमा लगी।

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर कीरति खोइ।
तिनके मुँह मसि लागि हैं, मिटिहि न मरिहँ धोइ।। *–गो0 तुलसीदास*

दुष्टों ने मछन्दरनाथजी पर व्यभिचार का दोष मढ़ा था, किन्तु संतों ने ठीक ही कहा है– *साँच-साँच सो साँच है, झूठ काँच का काँच।।* (शान्ति-सन्देश, अप्रैल 1990 ई0)

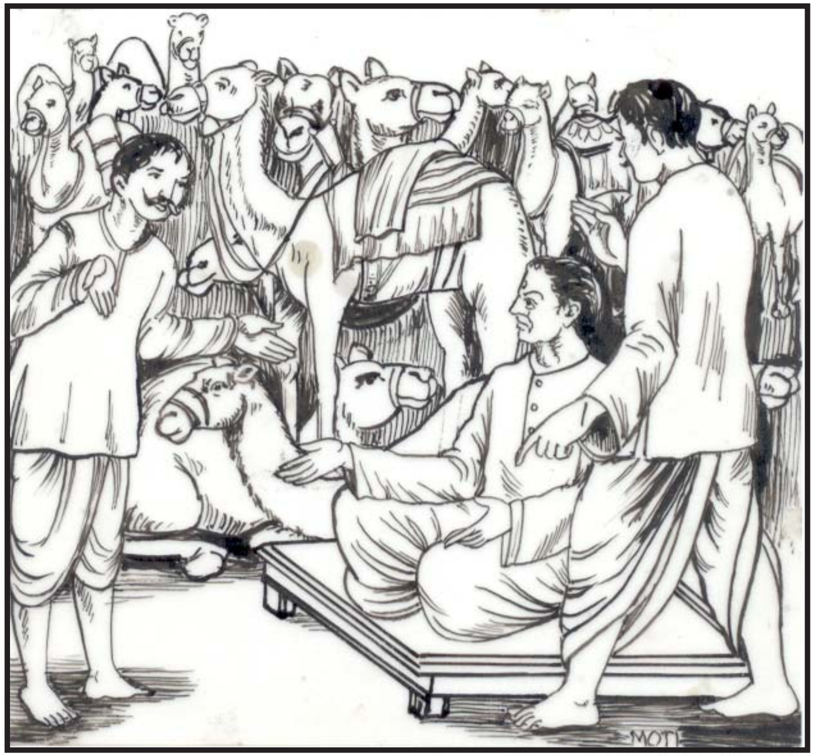
र

25. युक्ति का चमत्कार

जहाँ युक्ति है वहाँ मुक्ति है। बिना युक्ति के मुक्ति मिल नहीं सकती। रेलगाड़ी लोहलीक पर चलती है। यदि इंजन लोहलीक से उतरकर गढ़े में चला जाय, तो सैकड़ों हजारों आदमी मिलकर भी उसको उस लीक पर ठीक से नहीं रख सकते। किन्तु क्रेन आता है और इंजन को गढ़े से निकालकर लोहलीक पर लाकर रख देता है।

अंकुश बहुत छोटा होता है और हाथी कितना बड़ा होता है। लेकिन युक्ति से वह छोटा-सा अंकुश इतने बड़े हाथी को वश में करके रखता है। यह है युक्ति का चमत्कार।

राजस्थान की कथा है– एक बूढ़े सेठजी थे। वे बीमार पड़े। उस समय उनका लड़का विदेश में था। उन्होंने अपनी सारी



सम्पत्ति का वसीयतनामा लिखा। जिसके मजबून में उन्होंने लिखा था– 'मेरी आधी सम्पत्ति धर्मखाते में दान दे दी जाय। बची हुई सम्पत्ति का आधा हिस्सा मेरे सुपुत्र को दे दिया जाय। चौथाई हिस्सा मेरे नौकर को और पाँचवाँ हिस्सा दाई को दे दिया जाय। समय पाकर सेठजी का शरीर छूट गया। सम्पत्ति का वसीयतनामा के अनुसार बँटवारा हो गया। अन्त में उन्नीस ऊँट बच गए। कोई भी उचित कीमत देकर ऊँट को लेने तैयार नहीं हुआ। समस्या सामने खड़ी हो गयी। गाँव के पंच पंचायत तक निर्णय नहीं कर सके कि क्या किया जाए? गाँव के पास ही दूसरे गाँव में एक वृद्ध प्रतिष्ठित सज्जन रहते थे। वे बड़ी तीव्र बुद्धि के थे। उलझी गुत्थी को सुलझाने में वे बड़े कुशल थे। उनको बुलाया गया। वे ऊँट की सवारी पर आए। राजस्थान में ऊँट की सवारी बहुत प्रचलित है। समस्या उनके सामने रखी गयी। उन्होंने स्थिति का अध्ययन किया और कहा– 'आप मेरा यह ऊँट भी उन्हीं ऊँटों के साथ मिला दीजिए। अब कितने हुए?' उत्तर मिला– 'बीस ऊँट।' उक्त सज्जन ने कहा– 'आधा अर्थात् दस ऊँट सेठजी के सुपुत्र को दे दिए जाएँ। चौथा हिस्सा यानी पाँच ऊँट नौकर को दे दिये जायँ और पाँचवाँ हिस्सा यानि चार ऊँट घर की दाई को दे दिए जायँ। अब सब मिलाकर कितने ऊँट हुए?' सभी लोगों ने एक स्वर में उत्तर दिया– '10+5+4 = 19 (उन्नीस) ऊँट हुए। लेकिन एक ऊँट तो बच गया।' उक्त सज्जन ने कहा– 'यह एक ऊँट तो मेरा है, जिस पर मैं चढ़कर आया था और अब चढ़कर चला जाऊँगा।'

इसी प्रकार संतों की सद्युक्ति है। इसीलिए कहा गया है, 'पंडितों का वेद और संतों का भेद।' भगवद्प्राप्ति का भेद संतों के पास है। इसी के लिए संत सद्गुरु की आवश्यकता है।

र (शान्ति-सन्देश, जून 1988 ई0)

26. अधोगति का कारण : मोह

जबतक अंधकार में रहोगे, यम के फन्दे से नहीं छुट सकते। तम-राज्य में रहना यम-राज्य में रहना है। अंधकार में रहनेवाले को यमराज खींचकर ले जाएगा। तुम्हारी इच्छा नहीं भी रहेगी, तब भी ले जाएगा। अविवेकी को संसार इतना सुहावना लगता है कि वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। इस विषय की एक रोचक कथा सुनिए—

एक दिन नारदजी बैकुण्ठ गए। नारदजी ने देखा कि भगवान् अकेले बैठे हैं। नारदजी ने पूछा— 'भगवन् आप अकेले यहाँ बठे हुए हैं, बैकुण्ठ खाली पड़ा है क्या बात है?' भगवान् ने कहा— 'क्या करूँ, बैकुण्ठ कोई आना चाहता ही नहीं।' नारद जी ने कहा— 'भगवन्! आप कैसी बात कहते हैं? मर्त्यलोक से यहाँ आने के लिए इतने लोग उत्सुक हैं कि बैकुण्ठ में सब लोगों को जगह नहीं मिल सकेगी।' भगवान् ने कहा— 'नारदजी! आप जाइए और मर्त्यलोक से लोगों को भेजिए। जितने लोग यहाँ आयेंगे, उन सबको मैं जगह दूंगा।'

नारदजी वहाँ से इस लोक में आए। देखा— कुछ बच्चे खेल रहे हैं। नारदजी ने बच्चों से कहा— 'ए बच्चों! बैकुण्ठ चलोगे?' बच्चों ने कहा— 'आप पागल हुए हैं? अभी हमलोगों के खाने-पीने, खेलने-कूदने, पढ़ने-लिखने के दिन हैं, हमलोगों ने दुनिया देखी नहीं। अभी बैकुण्ठ जाकर क्या करेंगे।' नारदजी ने मन में समझा कि बच्चे हैं, बैकुण्ठ की बात नहीं समझते हैं, इसलिए वहाँ जाना नहीं चाहते हैं। कुछ दूर आगे बढ़ने पर उन्होंने देखा कि कुछ नवयुवकों की सभा लगी है। नारदजी वहाँ गए और बोले— 'भाइयो! चलो बैकुण्ठ खाली पड़ा हुआ है।' उनलोगों ने कहा— 'बैकुण्ठ किस चिड़िया का नाम है, बाबाजी! अभी हमलोगों के बैकुण्ठ जाने का नहीं, दुनिया के आनन्द लुटने, ऐश-आराम, मौज करने का समय है। जाइए किसी बूढ़े को जाकर कहिए। हमलोगों

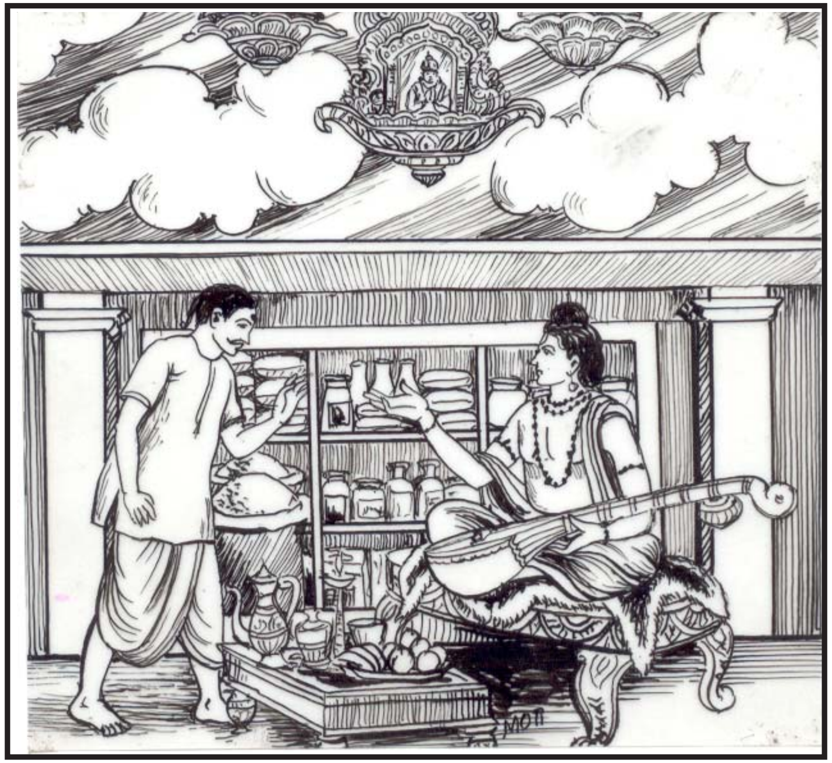
को क्या जरूरत पड़ी है अभी बैकुण्ठ जाने की।' नारदजी ने देखा कोई जवान भी बैकुण्ठ जाना नहीं चाहता। वे वहाँ से आगे बढ़े। घूमते-घूमते उन्होंने देखा कि एक बूढ़े व्यक्ति अपनी दूकान पर बैठे हुए हैं, उनके ललाट पर तिलक लगा हुआ है, हाथ में गोमुखी सुमिरनी है और वे जप कर रहे हैं। नारद जी ने सोचा ये जरूर बैकुण्ठ जाने के लिए तैयार हो जाएँगे। नारदजी ने उनके पास जाकर कहा— 'राम-राम सेठजी!' सेठजी ने कहा— 'राम-राम बाबा! आइए, विराजिए।' नारदजी वहाँ बैठ गए। सेठजी ने पूछा— 'कहिए बाबा! किधर से आना हुआ, किधर चलना हुआ।' नारदजी ने कहा— 'आपलोगों से ही भेंट करने आ गया। आपको देखकर बड़ी खुशी हुई। आप भगवान् का नाम जपते हैं, बड़ा अच्छा करते हैं। अब बैकुण्ठ चलिए ना।' सेठजी ने कहा— 'हाँ-हाँ मैं तो चलने ही वाला हूँ, बैकुण्ठ जाने के लिए तैयार ही हूँ, लेकिन देखिए— अभी लड़का छोटा है। जरा काम-धन्धा सम्भालने लायक हो जाए, फिर तो चलना ही चलना है। आप कुछ दिनों के बाद आइए।'

कुछ दिनों के बाद लड़का सयाना हो गया। काम-धंधा सब सम्भालने लग गया। नारदजी आए और कहा— 'सेठजी! अब चलिए।' सेठजी ने कहा— 'हाँ नारदजी! बेटे की शादी हो जाए, बहू का मुँह देख लूँ, फिर चलूँगा। कुछ दिनों के बाद बेटे की शादी हो गई। उसके बाद नारदजी आए और बैकुण्ठ चलने को कहा, तो सेठजी ने उत्तर दिया— 'नारदजी! आपके आशीर्वाद से सब तो हो ही गया है, अब केवल एक लालसा बाकी बच गयी है— पोते का मुँह देखना। आपकी दुआ से वह भी पूरा हो जाए, फिर तो बैकुण्ठ जाने के सिवा मेरे लिए कोई काम ही नहीं रह जाएगा।' कुछ दिनों के बाद पोता भी हो गया। इस बार जब नारदजी आए और कहा— 'सेठजी! प्रभु कृपा से आपको पोता हो गया है, अब चलिए।' सेठजी ने आवेश में आकर झुंझलाकर कहा— 'नारदजी! इतनी

बड़ी दुनिया में आपको कोई नहीं मिला, जो घूम-फिर कर बार-बार मेरे ही पास आते हैं। जाइए, मुझे बैकुण्ठ-वैकुण्ठ नहीं जाना है। कुछ दिनों के बाद सेठजी का शरीर छूट जाता है और अधोगति को प्राप्त होते हैं।

इसीलिए संत कबीर साहब कहते हैं—

निधड़क बैठा नाम बिनु, चेति न करै पुकार।
यह तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार।।



इस अनित्य संसार में क्षणभंगुर शरीर को पाकर घमण्डी नहीं बनो, भगवद्भजन करो। इस शरीर का कोई ठिकाना नहीं, कब विनष्ट हो जाएगा। ɤ (शान्ति-सन्देश, जुलाई 1990 ई0)

27. बाह्य जगत में सुख नहीं

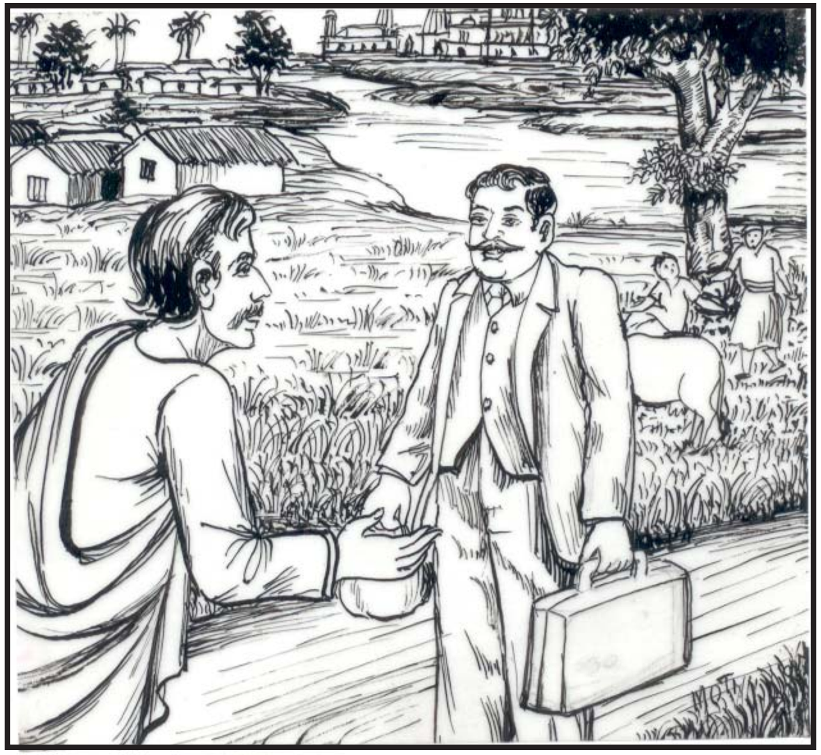
सुख-दुःख के संबंध में हमारे शास्त्र का कथन है कि जो हमारे मन और इन्द्रियों को सुहावे, वह सुख तथा जो हमारे मन और इन्द्रियों को नहीं सुहावे, वह दुःख है। पर विवेक विलोचन से अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाह्य जगत में यथार्थतः सुख है ही नहीं। यदि हम नित्य शाश्वत सुख चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि हम अपनी बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करें। बाह्य जगत का अवलोकन बंद करके अर्न्तजगत् की झाँकी करें।

एक बड़ी अच्छी रोचक कथा है। दो भाई थे। एक देहात में रहते थे, दूसरे सुदूर शहर में। दोनों भाइयों को दोनों जगहों में निरन्तर निवास करते वर्षों बीत गए। अधिक दिनों तक एक स्थान में रहते हुए ग्रामीण भाई का चित्त गाँव से उबने लगा। वह मन-ही-मन सोचने लगा— मेरा छोटा भाई जो शहर में रहता है, उसका जीवन कितना सुखी व सम्पन्न होगा? बस, ट्राम, रेलगाड़ी, इक्के, टमटम, स्कूटर आदि की सवारी करता होगा, अच्छे-अच्छे होटलों में अच्छे-अच्छे खाना खाता होगा, सुन्दर, सुसज्जित, सुरम्य भवन में सुवस्त्र सह सुखपूर्वक निवास करता होगा। कभी क्लब, कभी वन-उपवन, कभी सुन्दर वन की सैर कर मन के अरमानों को पूर्ण करता होगा। छोटे भाई का बड़ा भाग्य है! कितना अहोभाग्य है उसका! और मैं बड़ा भाई होकर ही क्या हुआ? निट्ठाह देहात में निरन्तर सड़ रहा हूँ। कहाँ शहर का सुनहला जीवन और कहाँ देहात का दुर्गन्धित जीवन। नगर की नित्य नवीनता और देहात की दैन्य दरिद्रता को कौन नहीं जानता? घर का फुस-खपड़ा और तन पर फटा कपड़ा.......। काश! मैं भी एक बार अपने जीवन में शहर की सैर कर पाता! इतना सोचकर

वह शहर की ओर चल पड़ा।

उसका दूसरा भाई जो शहर में रहता था, उसके मन में आया– मेरे बड़े भाई साहब बड़े भाग्यवान् हैं, जो देहात में रहते हैं। देहात का कितना दोषहीन वातावरण, कितने भोले-भाले भले दिल के लोग, कितना भला व्यवहार, कितना सादा सुन्दर और साफ जीवन! उफ......।

और, यहाँ (शहर) का कितना विषाक्त और गन्दा वातावरण! ईर्ष्या-द्वेष, कलह और प्रपंच परिपूरित लोग। कितना छल-छद्म, और विकारी जीवन! अफसोस! और देहात का देव दुर्लभ दुग्ध, घृत, शुद्ध अन्न, फल तथा शुद्ध पवन और पानी; क्या कहना।



और, शहर में तो कहर होता, कौन नहीं जानता? क्या कहा जाय? कल का आटा, नल का पानी, और मीलों विषाक्त करनेवाली मिल की धुआँ-मिश्रित हवा। अतएव रे मन! चलो अपने वतन की ओर......। यह कहकर वह घर की ओर चल पड़ा।

छोटे भाई ने शहर से घर की ओर और बड़े भाई ने घर से नगर की ओर प्रस्थान किया। कुछ पथ तय करने के पश्चात् संयोगवश रास्ते में ही दोनों भाईयों से भेंट हो गयी। परस्पर प्रणिपात आशीर्वाद और कुशलोपरान्त दोनों ने एक दूसरे से उनकी यात्रा का कारण पूछा। अपने-अपने मनोभावों का स्पष्टीकरण करते हुए छोटे भाई ने कहा–'भाई साहब! शहर में सुख शान्ति-सयुक्त कोई नहीं।' बड़े भाई ने कहा–'भाई! देहात में भी दुख से कोई मुक्त नहीं।'

इस प्रकार एक ने देहात के दुर्गुणों को बताकर उसको हेय बताया, तो दूसरे ने नगर के नग्न नृत्य का चित्र चित्रित कर उसे श्रेय हीन सिद्ध किया।

अन्त में दोनों भाइयों ने यही निष्कर्ष निकाला– न तो शहर में सुख है न देहात में। बाह्य जगत में कहीं भी सुख नहीं है। यदि यथार्थ सुख चाहो, तो अपने अन्दर धँसो और अन्तर के अन्तिम तह तक धँसकर देखो। तब वह सुख मिलेगा, जिसको प्राप्त कर कोई भी प्राप्तिकर्त्ता स्वप्न में भी नहीं कह सकता कि वह दु:ख है या अब किसी प्रकार का दु:ख है।

पावइ सदा सुख हरि कृपा संसार आसा तजि रहै।
सपनेहूँ नहीं दुख द्वैत दरसन बात कोटिक को कहै।।

(गो0 तुलसीदासजी)

र (शान्ति-सन्देश नवम्बर 1990 ई0)

28. सारिपुत्र की कृतज्ञता

जो इन्सान होता है, जो विवेकशील मानव होता है, उसका जब कोई उपकार करता है, तो वह भी चाहता है कि उसका उपकार करे।

भगवान् बुद्ध के जमाने की बात है। श्रावस्ती नगर में एक बहुत बड़े सेठ थे, उतने ही बड़े वे कंजूस भी थे। भिक्षु लोग भिक्षा के लिए उनके पास जाते थे, तो वे कभी किसी को कुछ देते नहीं थे। भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र भी कई दिन उनके दरवाजे पर जाते रहे, लेकिन उन्होंने उनको भी कुछ नहीं दिया; परन्तु सारिपुत्र ने जाना भी बंद नहीं किया। एक दिन सेठजी ने पूछा– 'भिक्षु! मैं तो तुमको कभी कुछ देता नहीं, फिर



भी तुम क्यों आते हो?' सारिपुत्र ने कहा– 'तुम देते कैसे नहीं हो? इतने दिनों तक तुम मौन रहे, चुप रहे लेकिन आज वचन तो तुमने दिए।' सेठजी ने देखा– यह बड़ा संतोषी भिक्षु है। किसी से कहकर उसने इनको एक कलछी भात दिला दिया। वे संतुष्ट होकर बिहार चले आए। अब होता क्या है? सेठजी के ऊपर उन संत का प्रभाव पड़ता है। उनकी अहैतुकी कृपा होती है। परिणामस्वरूप सेठजी के मन में अपने वैभव से विराग हो जाता हे। सोचते हैं मैंने तो चाहा था, भोगों को भोगेंगे। लेकिन भोग ने ही मुझे भोग लिया। संत कबीर साहब की वाणी में है–

सोचते थे हम खायेंगे, बहुत जमीं बहु माल।
ज्यों का त्यों ही रह गया, पकड़ि ले गया काल।।

शरीर वृद्ध होता है। लेकिन तृष्णा वृद्धा नहीं होती। वह ज्यों-का-त्यों युवती बनी रहती है। तुलसीदासजी ने लिखा है–

बुझै न काम अगिन तुलसी कहूँ विषय भोग बहु घीते।

प्रज्वलित अग्नि में घी डालने से वह बुझती नहीं, बढ़ती है। उसी तरह विषय-भोगों से कभी तृप्ति नहीं हाती बल्कि कामाग्नि अधिकाधिक बढ़ती है। हाँ, तो उक्त संत की अनुकम्पा से सेठजी का मन उपराम हुआ और वे चले आए भगवान् बुद्ध की चरण-शरण में शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने के लिए। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को बुलवाया और पूछा– 'तुमलोग इनको पहचानते हो, ये कौन हैं?' भिक्षुओं ने कहा– 'जी हाँ! ये बहुत बड़े सेठ हैं। बहुत धनी हैं।' भगवान् बुद्ध ने पुनः पूछा– 'इन्होंने तुमलोगों का कभी कुछ उपकार किया है?' भिक्षुओं ने कहा– 'भन्ते! ये बहुत बड़े कंजूस हैं, सूम हैं, मक्खीचूस है।'

संसार में चार तरह के लोग होते हैं– दाता, उदार, सूम, (कंजूस) और मक्खीचूस। अपनी सुख-सुविधा की परवाह न

करके जो दूसरों की भलाई करते हैं, उपकार करते हैं, ऐसे विचार के लोगों को दाता कहा जाता है। अपनी अर्जित सम्पत्ति के द्वारा जो अपनी सुख-सुविधा के साथ दूसरों का भी ख्याल रखते हैं, उपकार करते हैं, वे उदार कहलाते हैं। जो स्वयं के सुख भोग की तो व्यवस्था करते हैं, किन्तु औरों की परवाह नहीं करते, वे सूम कहलाते हैं। जो प्राप्त धन का न तो स्वयं उपयोग करते और न अन्यों को करने देते, धन को बटोर बटोरकर रखते जाते हैं, वे मक्खीचूस कहलाते हैं। यदि घीउ में मक्खी चली गयी तो उसको वे यूँ ही निकालकर नहीं फेंकते, बल्कि मक्खी को बाहर निकालने में उसके साथ घीउ न चला जाय ऐसा विचार कर वे मक्खी को चूस कर फेंकते हैं। ऐसे होते हैं मक्खीचूस।

हाँ, तो इतने में वहाँ सारिपुत्र आ गए। उन्होंने कहा– 'भगवन्! इन्होंने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है।' भगवान् बुद्ध ने पूछा– 'क्या उपकार किया है?' सारिपुत्र ने कहा– 'एक दिन एक कलछी भात इन्होंने मुझे दिलवाया था।' भगवान् बुद्ध ने कहा– 'धन्य हो तुम सारिपुत्र! एक कलछी भात दिलानेवाले को भी याद रखते हो। इसलिए तुम्हीं इनको भिक्षु बनाओ। संन्यास दीक्षा दो।' भगवान् की आज्ञा पाकर सारिपुत्र ने उस सेठजी को संन्यास की दीक्षा दी।

एक कलछी भात दिलानेवाले की भी याद रखनेवाले लोग होते हैं। प्रभु ने आज तक हमको कितना खिलाया है और जबतक जीवन रहेगा और कितना खिलायेंगे! फिर भी उनकी याद हम न करें, बैठकर कुछ क्षण स्मरण न करें, तो हम कितने बड़े कृतघ्न होंगे! इसलिए हमें चाहिए कि हम प्रभु की स्तुति करें।

र (शान्ति-सन्देश, जनवरी 1990 ई0)

29. कर्मयोगी बनें

एक सेठ ने अपने व्यस्क पुत्र को प्रमादी देखकर उसे वाणिज्य-व्यापार के लिए थोड़ी पूंजी दी। सेठ पुत्र ने अल्प दिन में विशेष धनवान होने की आकांक्षा से नेपाल राज्य की यात्रा की। मार्ग में अनेक जंगल, गिरि एवं सरिताओं को पार करता हुआ वह एक घनघोर कानन में जा पहुँचा, जहाँ मानव के श्वास मात्र को भी गति नहीं थी। वह दुस्साहस कर आगे बढ़ ही रहा था कि बड़ी तीव्रता से दहाड़ता हुआ एक सिंह को कानन-कुंज के एक भाग से दूसरे भाग में प्रवेशित होते देखा। देखते ही उसका दिमाग सुन्न पड़ गया, बदन पसीना-पसीना हो गया। और डर से थर-थर काँपने लगा। फिर अपने प्राणरक्षार्थ येन-केन-प्रकारेण वह एक पेड़ पर चढ़ा। इतने में वह मृगेन्द्र एक मृग का मृगया कर उसे घसीटता हुआ एक मांद के समीप लाया और इच्छापूर्वक भोजन कर अपना रास्ता लिया। पश्चात् वहीं से एक लंगड़ी लोमड़ी निकली और केशरी के उच्छिष्ट को खाकर वहीं एक झाड़ी में बैठ गयी।

सेठ-पुत्र यह सारा तमाशा देख रहा था। उसने सोचा– जब कि परमात्मा एक लंगड़ी लोमड़ी पर्यन्त को भरपेट भोजन देता है, तो क्या वह मुझे नहीं देगा? जो मैं घर-बार छोड़ अपनी जान हथेली में ले जंगल-पहाड़ की खाक छानने लगा। ऐसा विचार कर उसने निज घर की राह ली। और घर पहुँच, अपने पूज्य पिता के श्रीचरणों का अभिवादन कर मार्ग की घटना कह सुनाई। पिता ने कहा– 'प्रिय वत्स! तुम परम पिता (परमात्मा) के निर्देशन को यथार्थतः हृदयंगम नहीं कर सके। तुमने अर्थ का अनर्थ समझ लिया। बेटा! परमात्मा ने तुम्हें लंगड़ी लोमड़ी बनने को नहीं, वरन् केहरीवत् कर्मठ कर्मयोगी बनने की सीख दी। स्वयं कमाओ, खाओ और बचे हुए को लूले-लंगड़े के लिए छोड़ दो।

हमारे गुरुदेव मनुष्य मात्र को पंचशील-पालन अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से विरत रहने और स्वावलम्बी जीवन-यापन करने की सीख देकर परमात्म-भक्ति की ओर उन्मुख करते हैं।



सर्वसाधारण जन के लिए यही शिक्षा है कि सदाचार समन्वित हो परमात्म-भक्ति करो और अपनी शक्त्यानुसार तन, मन और धन से दूसरे की सहायता करो। तुम सिंह की तरह पुरुषार्थ कर स्वावलम्बी जीवन बिताओ, लंगड़ी लोमड़ी की तरह प्रमादी और परमुखापेक्षी मत बनो।

साध सिंह का एक मत, जीवत ही को खाय।
भावहीन मिरतक दशा, ताके निकट न जाय।।

(शान्ति-सन्देश, मार्च 1991 ई0)

30. काल के गाल से कैसे बचें?

लक्ष्मणजी को मेघनाद का वाण लग गया और वे मुर्च्छित हो गए। अब बतलाया गया कि अगर रात भर में आषधि आई, तब जो लक्ष्मणजी के प्राण बचेंगे, अन्यथा बचने की आशा नहीं है। वहाँ जाने में दस साल का समय लगता है। केवल रात भर की अवधि थी। भगवान् बड़े चिन्तित हुए। हनुमानजी ने देखा– हमारे प्रभु बहुत ही चिन्तित हैं, उन्होंने कहा– 'भगवन्! आप क्यों चिन्तित हैं?' भगवान् ने कहा– 'देखो! रातभर की अवधि है। सुषेण वैद्य ने औषधियाँ बतलाई हैं। अगर लाई जायँ तो लक्ष्मण बच सकते हैं। अन्यथा लक्ष्मण के जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। लक्ष्मण नहीं रहेगा तो कौन-सा मुँह लेकर मैं अयोध्या जाऊँगा।' हनुमानजी ने कहा– 'भगवन्! आपको चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं, मैं ले आऊँगा।' भगवान् राम ने कहा– 'जाने-आने में दस साल लगते हैं। रात भर में ला सकोगे?' उन्होंने कहा– 'आपकी कृपा चाहिए, आपका आशीर्वाद चाहिए।'

हनुमानजी चले औषधि लाने के लिए। उनको चार प्रकार की औषधियाँ बतलाई गयी थीं। इधर रावण का गुप्तचर लगा हुआ था कि राम क्या कर रहे हैं? गुप्तचर रावण को खबर देता है कि हनुमान औषधि लाने को चला पड़ा है। रावण के वश में सभी देवता थे। उन्होंने सूर्य से कहा– 'जाकर तुम उदयाचल पर उदित हो जाओ।' सूर्य ने कहा– 'अभी आधी रात हुई है, आधी रात बाकी है। रात पूरी होगी तभी मैं उदित होऊँगा।' रावण ने कहा– 'नहीं, अभी तुम्हें उदित होना है।' तब तक हनुमानजी उस पहाड़ पर पहुँच गए, जहाँ औषधि थी। वे औषधि खोजने लगे। इधर कुछ साफ-सा मालूम पड़ने लगा। हनुमानजी ने सोचा–

'अन्याय हो गया। सूर्य उदित हो गया तो मैं दवाई लेकर क्या करुँगा?' मारी छलांग, पहुँच गए सूर्य के पास। सूर्य से कहा– 'सुनिए आप देवता के पक्ष में हैं कि दानव के पक्ष में?' सूर्य ने कहा– 'हूँ तो मैं देवता के पक्ष में, लेकिन दानव के वश में हूँ।' हनुमान ने पूछा– 'तो क्या आप उदित हो जाएँगे?' उन्होंने कहा– 'रावण की आज्ञा है, उदित होने की।' हनुमानजी ने कहा– 'एक बात मैं आपके कान में कहता हूँ। मेरी बात सुन लीजिए, फिर आपको उदित होना है तो हो लीजिए।' सूर्य को जैसे ही अपने पास बुलाया कि पकड़कर उनको अपनी काँख में दबा लिया। फिर चले गए पहाड़ पर। औषधि लेकर लक्ष्मणजी के पास आए।



सुषेण वैद्य ने उन औषधियों को निकाला। एक औषधि का नाम था विशल्यकरणी। दूसरी औषधि का नाम था अस्थि संचारिणी। तीसरी औषधि का नाम था सुवर्णकरणी और चौथी औषधि का का नाम था मृतसंजीवनी। पहली औषधि लक्ष्मणजी को सुंघायी गई, जिसका नाम ही था विशल्यकरणी; उनके शरीर में जितनी तलवारें, तीर, भाले लगे हुए थे, सब-के-सब स्वतः निकल गए। अस्थि संचारिणी जड़ी सुघाई गई। जो उनकी हड्डियाँ टुट गई थीं मुड़ गई थी, इसके सुंघाने से सारी-की-सारी हड्डियाँ अपनी-अपनी जगह पर जुट गईं। हड्डियाँ जुट गईं, लेकिन हथियार लगने के घाव शरीर में थे। सुवर्णकरणी जड़ी सुंघाई गई। सभी घाव मिट गए। दाग कुछ भी नहीं रहा। सुवर्णकरणी जड़ी के सुंघाने से सोने के समान शरीर हो गया। पीछे उनको मृतसंजीवनी जड़ी सुंघाई गई और वे जीवित हो उठे।

लक्ष्मणजी को तो मेघनाद का वाण लगा हुआ था और हमलोगों को काल का वाण लगया हुआ है। काल के गाल से कोई बच नहीं सकता। काल के आगे किसी की दाल गल नहीं सकती। लेकिन परमात्मारूपी लाल को जो पा सकता है, उसी का जीवन निहाल हो सकता है। ये जड़ियाँ, ये ज्ञान हमलोगों को भी चाहिए।

संतमत बतलाता है कि ये जड़ियाँ इस प्रकार हैं– जिसको विशल्यकरणी कहते हैं वह है मानस जप। जिसको अस्थि संचारिणी कहते हैं, वह है मानस ध्यान। जिसको सुवर्णकरणी कहते हैं– वह है दृष्टियोग और जिसको मृतसंजीवनी कहते हैं– वह है नादानुसंधान। (शान्ति-सन्देश, जून 1991 ई0)

र

31. जप में एकाग्रता होनी चाहिए

जो कोई ठीक-ठीक मानस जप कर पाता है, उसके जितने विकृत विचार हैं, वे सब दूर हो जाते हैं। जप में जप और जापक रहे, बीच में कुछ न रहे; यह है जप। यह जप नहीं है–

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहिं।
मनुआँ तो दह दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं।

एक बार बादशाह अकबर शिकार खेलने के लिए गए और नमाज पढ़ने का समय हो गया। उसी जंगल में एक स्थान पर उन्होंने चादर बिछा दी और नमाज पढ़ने लग गए। एक कोई महिला थी, जिसके पति को विदेश गए कुछ वर्ष हो गए थे। किसी ने आकर कहा– 'तुम्हारे पति आ रहे हैं।' वह विह्वल होकर अपने पति से मिलने घर से चली। बादशाह की चादर पर होती हुई वह आगे बढ़ गई। बादशाह अकबर नमाज पढ़ रहे थे। उस समय वे कुछ नहीं बोले। मन में कुछ खेद जरूर हुआ। वह महिला जब वापस लौटी तब तक नमाज समाप्त हो गया। बादशाह लाल-लाल आँखें करके बोले कि तुमको कुछ तमीज नहीं है! तुमने देखा नहीं कि मेरी चादर बिछी थी नमाज पढ़ने की, उस पर से तुम चली गई। वह महिला कहती है–

नर राची सूझी नहीं, तू कस लखे सुजान।
पढ़ी कुरान बौरे भये, ना राची रहमान।।

'मैं तो जागतिक पुरुष के प्रेम में इतनी पग गई थी कि मेरा पग कहाँ पड़ रहा था, वह मुझे मालूम नहीं था। लेकिन आप तो जगत्पति की आराधना कर रहे थे, आपकी दृष्टि मुझपर कैसे पड़ गई?'

यह जप नहीं है। जप में एकाग्रता होनी चाहिए। जप जब एकाग्रतापूर्वक होता है, तो शास्त्र कहता है– 'जपात् सिद्धः।' जप से सिद्धि मिल जाती है। र (शान्ति-सन्देश, जून 1991 ई0)

32. कबीर साहब संतोषी थे

कबीर साहब पढ़े-लिखे तो नहीं थे पर रोजगार करके अपना जीवन-यापन करते थे। वे कपड़ा बनाते थे और बेचते थे। जो सच्ची आमदनी होती थी, उसी में सन्तुष्ट रहते। दाम बढ़ाकर नहीं रखते थे। एक ही दाम रखते थे। उनके लिए यह कहावत प्रसिद्ध है–

कबीर चाले हाट को, कहे न कोइ पतियाय।
पाँच टके का दोपटा, सात टके को जाय।।

एक बार कबीर साहब कपड़े बनाकर हाट में बेचने गए। उन्होंने उसका मूल्य पाँच रुपये बतलाया। ग्राहक चार रुपये, साढ़े



चार रुपये देते थे। कबीर साहब उस कपड़े को लेकर वापस लौट रहे थे। रास्ते में एक चतुर आदमी से उनकी भेंट हो गई। उसने उनसे हाट से कपड़े वापस लाने का कारण पूछा। कबीर साहब बोले– 'इस चादर की कीमत पाँच रुपये है, किन्तु लोग पाँच रुपये देना नहीं चाहते। इसलिए वापस ले जा रहा हूँ।'

चतुर आदमी ने कहा– 'यह चादर आप मुझे दे दें। मैं इस चादर को बेचकर पाँच रुपये आपको दे दूंगा। और जो अधिक पैसे बचेंगे, मैं ले लूंगा।' कबीर साहब ने कहा– 'भाई मुझे तो पाँच रुपये ही चाहिए।

उस चतुर मनुष्य ने उस चादर को बाजार में ले जाकर सात रुपये में बेचा। पाँच रुपये उन्होंने कबीर साहब को दिए और कहा– 'ये दो रुपये मेरे हुए।' कबीर साहब ने प्रसन्नतापूर्वक पाँच रुपये ले लिए।

ऐसे संतुष्ट थे कबीर साहब। घर में रहते थे। उन्होंने साधन-भजन ऐसा किया कि कोई कमी नहीं रही। अपने जीवन से सर्वसाधारण को उन्होंने उपदेश दिया।

(शान्ति-सन्देश, जुलाई 1991 ई0)

र

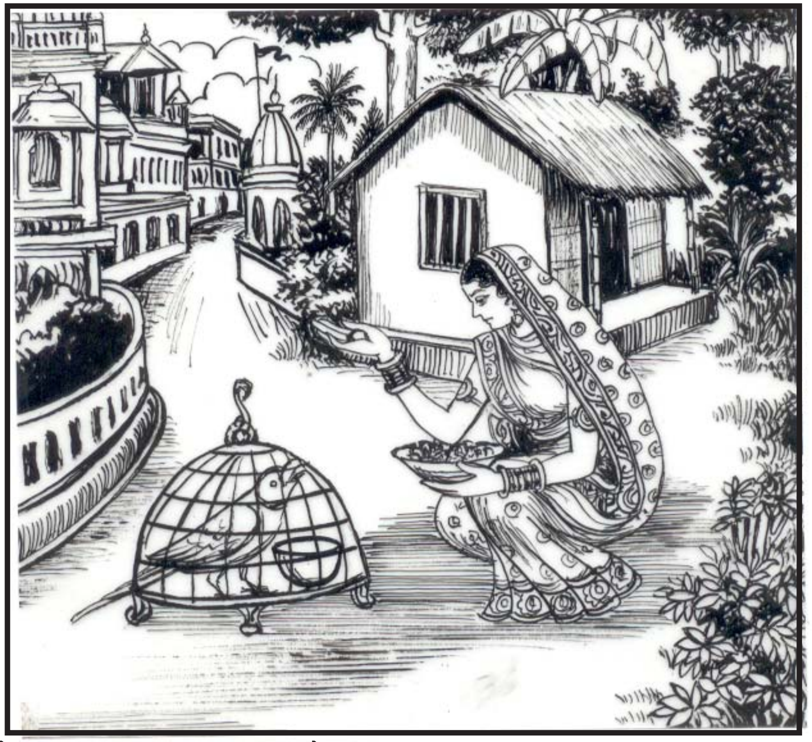
33. कर्मफल अमिट होता है

बनवास-काल में रात्रि के समय भगवान् श्रीराम भगवती सीताजी के साथ पत्ते की शय्या पर विश्राम कर रहे थे। थोड़ी दूर पर लक्ष्मण जग कर पहरा दे रहे थे। उनके निकट गुह निषाद आते हैं और भगवान् राम व सीताजी को इस विषम परिस्थिति में देखकर बड़े दुखी होते हैं। निषाद के मन में विषाद होता है। वे लक्ष्मणजी से कहने लग जाते हैं कि कैकेयी ने यह अच्छा नहीं किया। राजराजेश्वर श्रीराम और राज-रानी सीता को बनवास दे दिया। लक्ष्मणजी ने कहा–

काहू न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता।।

हे भाई! आप कैकेई को व्यर्थ क्यों दोष देते हैं? कोई किसी को सुख या दुख देनेवाला नहीं है। सब कोई अपने-अपने किए हुए कर्मों का फल भेगते हैं। जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अपने कर्म का फल जंगल में भोग रहे हैं। इसी प्रकार सीताजी भी अपने कर्म का फल भोग रही है।

कथा है कि सीताजी ने एक सुग्गी पाल रक्खी थी राजपुत्री होने के नाते सुग्गी को सोने के पिंजरे में रखती थी, और उसको दूध-भात खिलाती थी। सुग्गी ने शाप दे दिया सीताजी को– 'सीते! तूने मुझे पति से वियोग करवाया है। तुमको भी पति वियोग होगा। पति के वियोग में पत्नी की क्या हालत होती है, उसका अनुभव तुमको नहीं है, वह हो जाएगा, इसी कारण रावण ने सीता का हरण किया और सोने की लंका में ले जाकर रखा। सीताजी सुग्गी को दूध-भात खिलाती थी। सीताजी के भोजन के लिए इन्द्र ने खीर की व्यवस्था कर दी थी। वास्तव में कर्म का फल अमिट होता है। जिस खेत में हम जो बीज बोते हैं, समय पूरा होने पर उस खेत से हम वही फसल काटकर घर लात



हैं। तुलसीदासजी कहते हैं–

तुलसी यह तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप–पुण्य दुइ बीज है, बुवै सो लुणै निदान।।

हमलोगों का यह शरीर खेत-जैसा है। इसमें मन-वचन और कर्म किसान हैं। जैसे किसान खेत में बीज बोते हैं, वैसे ही कुछ कर्म हम मन से, कुछ कर्म वचन से और कुछ कर्म तन से करते हैं। इस तनरूपी खेत में हम पाप-पुण्य के बीज डालते हैं। पाप के बीज का फल होता है– दुःख और पुण्य के बीज का फल होता है– सुख। किसी ने कितना अच्छा कहा है–

कर भला होवै भला करके भलाई देख ले।
कर बुरा होवै बुरा करके बुराई देख ले।।

र (शान्ति-सन्देश, सितम्बर 1991 ई0)

34. सुख–दुःख हमारे कर्मों का ꣹ल है

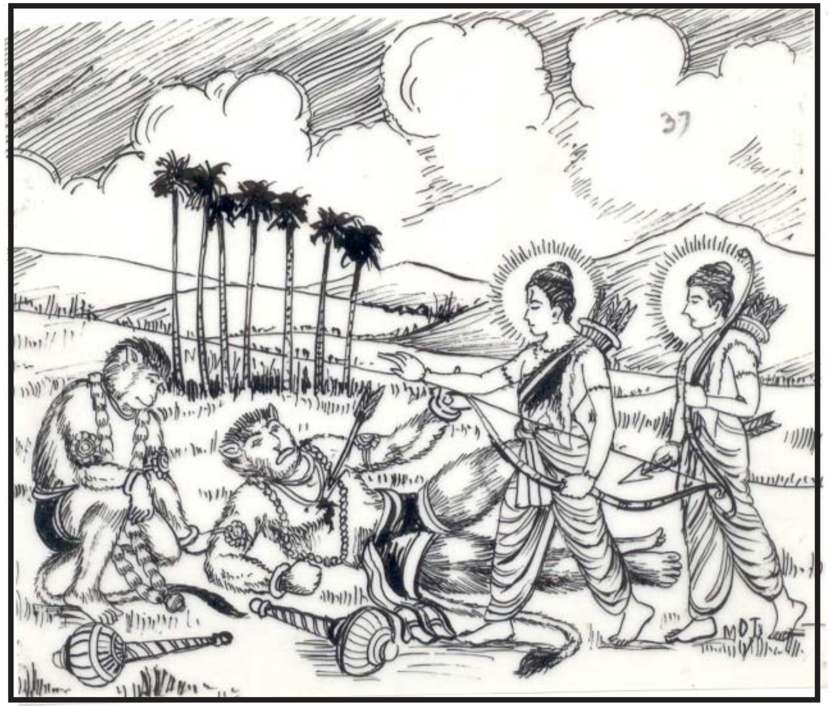
बालि को वरदान था कि जो कोई उसके सामने आकर युद्ध करेगा, उसका आधा बल इसमें आ जाएगा। अगर भगवान् श्रीराम भी उसके सन्मुख युद्ध करने के लिए आते, तो उनका आधा बल इनमें आ जाता। इसलिए युद्ध हेतु भगवान् श्रीराम बालि के सामने नहीं जाकर वृक्ष की आड़ लेकर उसको वाण मारते हैं, जिस तरह कोई व्याधा कोई आड़ लेकर शिकार खेलता है। भगवान् श्रीराम के वाण से जब बालि गिर जाता है, तब वे उसके पास जाते हैं, जिस तरह कोई व्याधा शिकार पर वाण मारता है और वह गिर जाता, तो उसको उठाने के लिए उसके निकट जाता है। बालि



बड़ा बलशाली और निर्भीक था। बालि कहता है– 'भगवन्! आपका अवतार धर्म-रक्षा और धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु हुआ है, किन्तु मेरे साथ जो व्यवहार किया, वह साधु का नहीं, व्याध का व्यवहार है। अर्थात् जैसे व्याध छिपकर मारता है, आपने भी मुझे छिपकर मारा है।

अब देखिए, अन्तिम परिणाम क्या होता है? त्रेतायुग के भगवान् श्रीराम द्वापर में श्रीकृष्ण के जीवन-काल में ही सम्पूर्ण यदुवंशियों का नाश हो जाता है। वे उदास हो जंगल की एक झाड़ी में पैर फैलाकर बैठ जाते हैं। उसी जंगल में वह व्याधा शिकार खेलने के लिए आता है। भगवान् का सम्पूर्ण शरीर तो झाड़ी की ओट में छिपा था, किन्तु उनके कमल से कोमल चरण का तलवा लाल-लाल झलक रहा था। व्याधे ने सोचा– हिरण दौड़कर कहीं से आया है और श्रान्त-क्लान्त हो अपनी जीभ निकाल रहा है। बस क्या था, वह वहाँ से ही तीर मारता है। वह तीर भगवान् के पद कमल को चीरकर बाहर निकल आता है। वह व्याधा हिरण जानकर उठाने के लिए दौड़ता है। किन्तु वहाँ तो साक्षत् भगवान् हैं। देखकर वह अवाक रह गया। दुःख-सन्ताप एवं पश्चाताप के अनल में वह जलने लगा। भगवान् ने उसको सान्त्वना दी।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जिस भगवान् के शरीर में महाभारत के युद्धकाल में अनगिणत तीर लगे, लेकिन वे सारे तीर उनके शरीर में वैसे ही विलीन होते गए, जैसे समुद्र में गिरकर बिजली। किन्तु अफसोस! आज का एक तीर उनके शरीर त्यागने का कारण बन गया। क्यों? इसलिए कि भगवान् ने अपने पूर्व जन्म में छिपकर बालि का वध किया था। यद्यपि भगवान्



सुख-दुःख, हानि-लाभ से परे हैं; फिर भी वे नर-लीला करके दिखलाते हैं कि भगवान् होकर भी अपने कर्म के फल को भोगते हैं, तो तुम किस खेत की मूली हो! तुमको भी अपने शुभाशुभ कर्मों का फल सुख-दुःख भोगना ही पड़ेगा। निष्कर्ष यह है कि जो कुछ हम सुख या दुख पाते हैं, सब अपने किए हुए कर्मों का फल है।

(शान्ति-सन्देश, सितम्बर 1991 ई0)

, , , , ,

35. दुर्बल को न सताइए

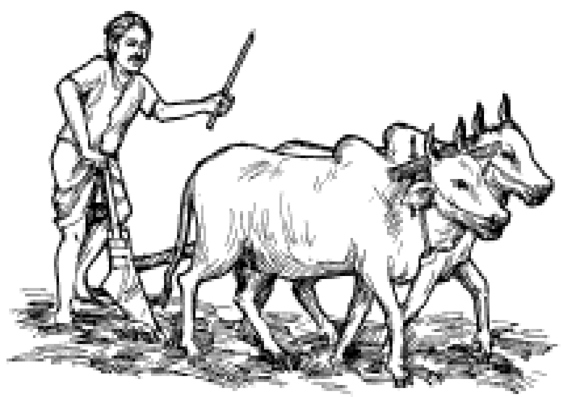
पुरैनियाँ जिले में एक अच्छे सुसम्पन्न सज्जन थे। जमीन-जायदाद अच्छी थी। गाँव के लोगों में उनकी प्रतिष्ठा थी। आज्ञाकारी गुणवान पुत्र, लक्ष्मीरूपा सुशीला पुत्रवधु, तीन-चार पौत्र-पौत्रियाँ, इस प्रकार सुखी, सुन्दर सराहनीय परिवार था। संयोगवश गृहपति की पत्नी परलोक सिधार गई। वे बेचारे अति विकल हो उठे। भरा पूरा गृह श्मशान-सा लगने लगा। मन की शान्ति भंग हो गई। दुनियावी हरियाली के लिए मित्रों के बीच अपने पुनर्विवाह का मन्तव्य प्रकट किया। किसी मित्र ने मजाक किया, किसी ने समझाने की चेष्टा की और किसी ने अपनी राय दी– साठ वर्ष की उम्र हो जाने के कारण तुम्हारी बुद्धि सठिया गई है, शादी हरगिज न करना। अब शादी क्या होगी, बरबादी होगी।' लेकिन मन ने नहीं माना, पुनर्विवाह कर लिया।

परिणामस्वरूप इष्ट-मित्र, कुटुम्ब-परिवार आदि सबकी दृष्टि से वे नीचे गिर गए। पिता-पुत्र में भी वैमनस्य हो गया। उनकी दृष्टि में उनके नए साले साहब हित चिन्तक होने के कारण सलाहकार बने। फलतः अपने वाग्जाल में फँसाकर उन (जीजाजी) की सारी जमीन अपने नाम लिखवा ली। अभी रजिस्ट्री नहीं हुई थी। लड़के को अपने मामाजी का षडयंत्र मालूम हुआ। उसने रजिस्ट्रार साहब से मिलकर सारी बातें सही-सही बता दी और जमीन रजिस्ट्री नहीं करने के लिए निवेदन किया। रजिस्ट्रार साहब ने उसकी परिस्थिति को अच्छी तरह समझा और सोचकर कहा– 'देखिए! मेरे सामने कागज आएगा, तो उसको मैं अस्वीकार कैसे कर सकता हूँ? फिर भी, आपको एक सप्ताह का मैं समय देता हूँ। यदि आप अपने पिताजी को राजी कर सकें, तो रजिस्ट्री नहीं होगी।' लड़के ने अपने पिताजी और मामाजी के पास जाकर बहुत प्रकार से अनुनय-विनय की, किन्तु सब व्यर्थ। लड़के ने पुनः अपने मामाजी के पैर पकड़

लिए और फूट-फूटकर रोते हुए कहा– 'मामाजी! मेरे ऊपर मेहर कीजिए। जरा मेरे भविष्य के ऊपर नजर कीजिए।' उसके मामाजी ने उसकी एक नहीं सुनी, बल्कि झटका देकर उसको दूर हटा दिया और कड़कती आवाज में बोले– 'रजिस्ट्री होगी, रजिस्ट्री होगी; इसको कोई शक्ति टाल नहीं सकती।' दुःख से आकुल और अधीर हो आह भरता हुआ उस लड़के ने कहा– 'मामाजी! आपने मुझे अपनी पैतृक सम्पत्ति से वंचित कर मेरे भविष्य की आशाबेलि पर तुषारपात किया है। अगर भगवान् सत्य है और मेरा हक सत्य है, तो आपके ऊपर वज्रपात होगा।'

रोता हुआ लड़का अपने कमरे में चला आया। और उसके मामाजी पाट की तैयारी करवाने के लिए खेत पर गए। मजदूर पानी में बैठकर पाट तैयार कर रहा था और वे थोड़ी दूर पर किनारे में बैठकर निगरानी कर रहे थे।

प्रभु की लीला अद्भुत है। अनन्तस्वरूपी सर्वेश्वर की अनन्त शक्ति का सामान्य जन को क्या पता, वह तो थोड़े ही धनैश्वर्य को पाकर छोटी नदी की तरह अपने को बहुत बड़ा समझकर इठलाता फिरता है। पता नहीं, कहाँ से बादल उमड़-घुमड़ कर आया, बिजली चमकी और हृदयविदीर्ण करनेवाली कड़ाके



की आवाज के साथ उनके शरीर पर वज्रपात हुआ और वे वहाँ ही धराशायी हो गए। खेत पर ही रामनाम सत्य हो गए।

जमीन ज्यों-की-त्यों पड़ी रह

गई। रजिस्ट्री नहीं हो सकी।

यह घटना अन्यान्य शिक्षाओं के साथ यह भी बतलाती है कि दुर्बल को सताओ नहीं, दूसरे का धन अपनाओ नहीं, अन्यथा परिणाम भयंकर होगा। संत कबीर साहब ने कहा है–

दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुए खाल की साँसले, लोह भसम हो जाय।

र (शान्ति–सन्देश, सितम्बर 1991 ई0)

36. शून्यं न बस्ती

जिस ईश्वर का नाम नहीं, वह ईश्वर कैसा? हमलोग ईश्वर के लिए नित्य 'अगोचर' शब्द का पाठ करते हैं । ईश्वर के लिए क्या वेद, क्या उपनिषद् सब–के–सब 'अगोचर–अगोचर' शब्द बोल रहे हैं। संत गोरखनाथ जी कहते हैं–

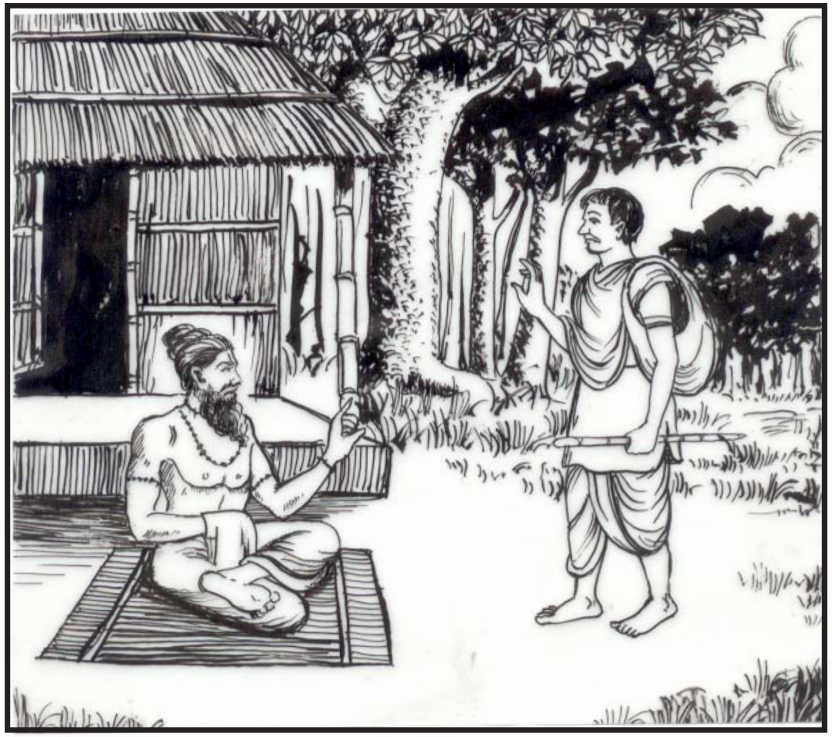
बस्ती न शून्यं शून्यं न बस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगन शिखर महँ बालक बोलहि वाका नाम धरहुगै कैसा।।

ये भी ईश्वर स्वरूप के लिए कहते हैं'अगोचर'। वह बस्ती है या शून्य है, भरा है या खाली– कुछ कहा नहीं जा सकता। अगर हम मुँह में ले लेते हैं, वाणी में ले लेते हैं, तो आवांगमनस् नहीं कह सकते।

एक यात्री यात्रा कर रहा था। रास्ते में जंगल मिल गया। एक साधु बाबा की कुटिया थी। वहाँ पर वह यात्री पहुँचता है और पूछता है– 'बाबा! बस्ती कितनी दूर है?' साधु बाबा ने कहा– 'बस, जंगल पार करो बस्ती मिल जाएगी।' वह जंगल पार करता है। देखता है कि श्मशान है। लौटकर वह आता है और कहता है कि बाबा! आपने कहा था कि बस्ती जंगल पार करने पर मिलेगी। वहाँ तो बस्ती नहीं है, वहाँ तो श्मशान है। साधु बोला– 'अरे! बस्ती किसको कहते हैं? जिसको तुम बस्ती

कह रहे हो वास्तव में वह बस्ती नहीं है, वह तो उजाड़ है। लोग रोज मर–मर कर वहाँ से उठते जाते हैं। बस्ती तो यह है। एक बार बसने के बाद यहाँ से कभी कोई उजड़ता नहीं। जिसको तुम उजाड़ (श्मशान) कहते हो, वही बस्ती है और जिसको तुम बस्ती कहते हो, वह उजाड़ है।

जब जग–व्यवहार की ऐसी बात है, तब उस प्रभु के लिए



क्या कहा जाय कि वह बस्ती है या शून्य है। प्रभु–स्वरूप के संबंध में संत कबीर साहब क्या कहते है। सुनिए–

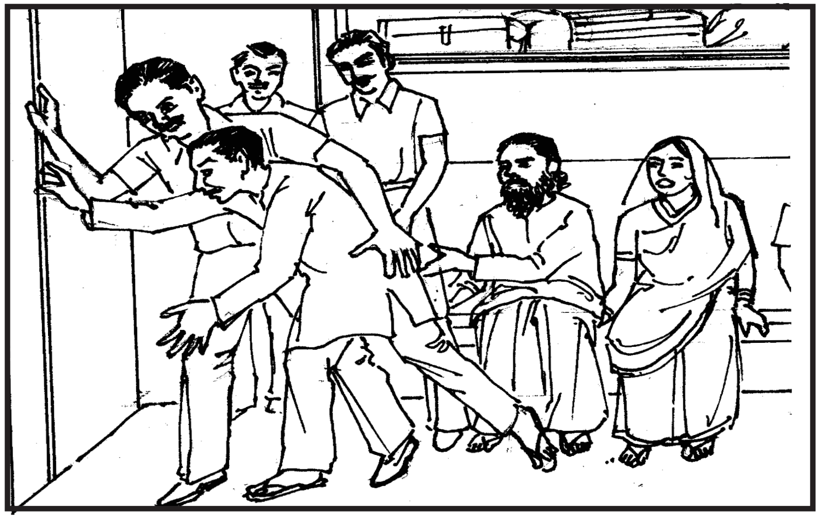
नैना बैन अगोचरी, श्रवणा करनी सार।
बोलनि कै सुख कारनै, कहिये सिरजन हार।।

र (शान्प्ति–सन्देश, जुलाई 1993 ई0)

37. जाको राखै साइयां

साधु-सन्तों के दर्शन से पारलौकिक लाभ तो होते ही हैं, लेकिन लौकिक लाभ भी कम नहीं होता।

अयोध्याजी में एक बहुत बड़े विद्वान साधु थे। वे पी0 एच0 डी0 किए हुए थे। उन्होंने जब हमारे गुरु महाराज की महिमा-विभूति के सन्दर्भ में सुना, तो उनकी इच्छा हुई उनके दर्शन की, वे वहाँ से चले। ट्रेन के Second Class में यात्रा कर रहे थे। उसी Compartment में एक नवयुवक अपनी पत्नी के साथ आया। वे दोनों भी उसी Compartment में बैठ गए। गाड़ी खुली, आगे बढ़ी। आगे के स्टेशन पर चार-पाँच व्यक्ति वेश-भूसा से तो पढ़े-लिखे सज्जन-से लगते थे, किन्तु ट्रेन खुलते ही उनलोगों ने अपनी दुर्जनता का परिचय देना आरम्भ किया। उस नवयुवक की पत्नी के साथ छेड़खानी शुरु की। उसके पति ने विरोध किया, तो दो दुर्जन ने उसके पति को पकड़कर पैखाने के घर में ले जाकर बंद कर दिया और उसके पहरे पर बैठ गए। बचे हुए तीन ने फिर उसके साथ छेड़खानी शुरु की। साधु बाबा को देखा नहीं गया। उन्होंने कहा- 'देखो भाई! तुमलोगों को जो रुपये,



जेवर लेने हों, ले लो। लेकिन इसके साथ इस तरह का दुर्व्यवहार ठीक नहीं। उनलोगों ने कहा- 'हमलोग तो समझ रहे थे कि आप साधु हैं। इसलिए आपको अबतक कुछ नहीं कहा था। किन्तु अब तो जो कुछ कहना है, आप ही को पहले कहेंगे, फिर उसको।' इतना कहकर उनलोगों ने साधु बाबा को गाड़ी से बाहर फेंक दिया। रात का समय था। जब वे गाड़ी से फेंके जा रहे थे, उन्होंने मन-ही-मन कहा- 'सुना था संतों के दर्शन से सूली की सजा काँटे पर ही टल जाती है और मैं तो संत-दर्शन के लिए जा ही रहा हूँ कि मेरी यह दुर्गति! इतना सोचते ही वे निकट में लगे बिजली के खम्भे से टकरा कर नीचे गिरते हैं, जहाँ पहले से पुआल जमा था। गार्ड साहब ने साधु बाबा को गाड़ी से गिरते देखा।

उन्होंने गाड़ी रोक दी और उनके निकट जाकर पूछा- 'बाबा! क्या हुआ?' साधु बाबा ने उत्तर दिया- 'मुझको कुछ नहीं हुआ है। आप इतने नम्बर के Compartment में जाकर देखिए- क्या हो रहा है।' गार्ड साहब पुलिस के साथ वहाँ जाते हैं। पुलिस को देखकर कुछ बदमाश तो भाग गए। बचे हुए को पुलिस पकड़कर ले गई। साधु बाबा जब गुरुदेव के दर्शनार्थ भागलपुर, कुप्पाघाट आश्रम पहुँचे, उस समय पूज्य गुरुदेव महाराज का प्रवचन चल रहा था और वे प्रवचन के क्रम में कह रहे थे-

कबीर दर्शन साधु के, बड़ भागे दरसाय।
जो होवै सुली सजा, काँटे ही टल जाय।।
जाको राखै साइयाँ, मारि सकै नहिं को।
बाल न बाँका करि सके, जो जग बैरी होय।।

प्रवचन समाप्त होने पर पूज्य गुरुदेव के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए उन साधु बाबा ने कहा- 'महाराज जी! आपका प्रवचन मैं सुन रहा था। मुझे तो ऐसा लगा जैसे आपने मेरे लिए ही सारी बातें कही हो; क्योंकि मेरे साथ ऐसी ही घटना घटी है।'

(शान्ति-सन्देश, दिसम्बर 1991 ई0)

38. गुरु-कृपा का चमत्कार

अज्ञ जीव जानता नहीं कि गुरुदेव की कृपा कब, कैसे और किस प्रकार होती है।

एक कामिल फकीर थे। उनके एक शिष्य नवाब थे, जो दूर शहर में रहते थे। फकीर ने अपने निकटवर्ती शिष्य को एक अनार देकर कहा कि जाकर यह अनार नवाब को देना और कहना कि इस अनार को वह खाएगा। शिष्य अनार लेकर पहुँचता है उस नवाब के पास। नवाब के साथ बहुत लोग बैठे हुए थे। उक्त शिष्य ने नवाब को अनार देते हुए कहा कि तुम्हारे मुर्शिद ने यह सन्देश भेजा है, तुम्हारे खाने के लिए। लो, खाओ। नवाब सोचते हैं, गुरु महाराज का भेजा हुआ प्रसाद अनार है। उसको तुरत



तोड़कर उसके पाँच दाने उन्होंने अपने मुँह में डाले। अनार इतना खट्टा था कि नवाब साहब को न थूकते बनता था और न निगलते ही। अगर थूकते हैं तो गुरु की प्रतिष्ठा में हीनता होती है। गुरु प्रसाद की मर्यादा रखने के लिए किसी तरह निगल गए। जो शिष्य अनार लेकर गया था, उसने कहा– 'और खाओ।' पाँच दाने खाने में ही तो बेचारे का दम घुटने लगा था। नवाब सोचते हैं– ये गुरु महाराज के प्रधान शिष्य हैं। इनकी बात कैसे नहीं मानी जाय। तो पाँच दाने और मुँह में डालकर निगल गए और कहा– 'अच्छा, पीछे खा लूंगा।' इसपर उसने कहा– 'बस! अरे, और खाओ।' उतने लोग बैठे थे। अब कैसे कहे कि नहीं खाऊँगा। जबरदस्ती चार दाने और निगल गए और कहा– 'अच्छा, पीछे खा लूंगा।' वह शिष्य लौटकर चला आया गुरु महाराज के पास। गुरु महाराज ने पूछा– 'अनार नवाब को दिया?' शिष्य ने उत्तर दिया– 'जी हाँ!' मुर्शिद ने पूछा– 'समूचा अनार खाया?' शिष्य ने उत्तर दिया– 'समूचा तो नहीं, किन्तु पाँच-पाँच और चार कुल चौदह दाने खाए।' फकीर ने कहा– 'मैं क्या करुँ! मैंने तो समूचा अनार भेजा था। अगर उसने समूचा अनार खाया होता तो जिन्दगी भर उसकी नवाबी रहती, अब मात्र चौदह वर्ष उसकी नवाबी रहेगी।'

संत सद्गुरु तो जीव को सुख-सिन्धु मे ले जाने के लिए चाहते हैं, लेकिन शिष्य ही अपनी अल्प बुद्धि को विशेष मानकर चूक कर बैठता है। कबीर साहब ने कहा है–

गुरु बेचारा क्या करै, जो शिष्य माहीं चूक।
भावे जो पर बोधिये, बांस बजायी फूंक।।

संतमत में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। हमारे गुरुदेवजी (महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज) बहुत ऊँचे और महान् संत थे। उन्होंने जिस ज्ञान का प्रचार किया, उन्होंने जो शिक्षा-दीक्षा दी, वह बहुत ऊँची है। र (शान्ति-सन्देश, अगस्त 1993 ई0)

39. मन खुरफ़ात मचाता है

हमलोग अपने मन को टोयें और देखें कि इसकी क्या हालत है। यदि ईमानदारी से अपने मन को टटोलें तो हमसे कितनों की दशा इतनी बदतर मालूम पड़ेगी, यह हम सोच भी नहीं सकते। हमारा तन भले ही बैठा हो, परन्तु मन सदा खुराफात मचाता रहता है।

बड़े सिकन्दर के समय एक बड़ा डकैत था। उसको किसी प्रकार पकड़वाकर सिकन्दर के सामने लाया गया। सिकन्दर ने उससे पूछा– 'तुम डकैती क्यों करते हो?' डकैत ने कुछ उत्तर नहीं दिया। सिकन्दर ने उससे फिर पूछा– 'तुम बोलते क्यों नहीं?' डकैत ने कहा– 'बादशाह सिकन्दर! तुमने मेरे शरीर को बांधा है मेरे मन को नहीं। यदि तुम मुझसे कुछ पूछना चाहते हो, तो मैं एक स्वतंत्र पुरुष की तरह उत्तर दूंगा। क्या तुम सुनना चाहते हो?' सिकन्दर ने कहा– 'तुम स्वतंत्र भाव से जो कहना चाहते हो कहो।' उसने कहा– 'तुम मुझे डकैत कहते हो। मैं छोटा डकैत हूँ और तुम बड़े डकैत हो। अवश्य ही मैंने कुछ लोगों को लूटा है, लेकिन तुमने कितने देशों को लुटा है और लुटते हुए अब भारत आए हो। तुममें और मुझमें यही फर्क है कि तुम बड़े अमीर-घर में जन्म लिए हो और मेरा जन्म छोटे गरीब-घर में हुआ है।

शरीर को कोई बाँध भी दे, पर मन बाँधा नहीं जाता है। यह तमाम खुराफात का घर है। (शान्ति-सन्देश, दिसम्बर 1992 ई0)

40. सगुण-दर्शन से भ्रम

सगुण रूप के दर्शन से बहुतों के मन में भ्रम उत्पन्न हुआ। लेकिन जिन्होंने निर्गुण-दर्शन किए, वे भ्रम से मुक्त हो गए। रावण ने जब सीता का हरण किया। सीताजी लंका में वहाँ की अशोक वाटिका में वे रहने लगी। इधर भगवान् राम और लक्ष्मणजी सीताजी की खोज में चले। जिस जंगल में भगवान् राम और लक्ष्मण जा रहे थे, उसी जंगल की दूसरी ओर से भगवान् शंकर सतीजी के साथ आ रहे थे। भगवान् शंकर ने देखा– अभी नजदीक जाकर प्रणाम करने का समय नहीं है। उन्होंने दूर से ही प्रणाम कर लिया। सतीजी ने पूछा– 'आपने किनको प्रणाम किया?' भगवान् राम की ओर संकेत करके भगवान् शंकर ने कहा– 'देखती नहीं हो, भगवान जा रहे हैं।' सतीजी ने कहा– 'ये राजा दशरथ के पुत्र हैं। ये भगवान् कैसे? जौं नृप तनय तो ब्रह्म किमि– ये राजपुत्र हैं, ये ब्रह्म कैसे हो सकते हैं। अगर आप कहते हैं कि ये ब्रह्म हैं तो नारी विरह में इतने विकल क्यों हैं? इनकी महिमा को सुनकर और इनके चरित्र को देखकर मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है।' भगवान् शंकर ने समझाने की चेष्टा की, लेकिन सतीजी के मन ने नहीं माना। भगवान् शंकर ने देखा– मेरी बात से इसको बोध नहीं हो रहा है तो उन्होंने कहा– 'अगर मेरी बात पर तुमको विश्वास नहीं है तो जाओ स्वयं परीक्षा ले लो कि वे भगवान् हैं या नहीं। मैं इसी वृक्ष के नीचे बैठता हूँ।' भगवान् शंकर बैठ गए और सतीजी चली परीक्षा लेने के लिए। सोचने लगी– परीक्षा कैसे और किस तरह लूँ। सोचते-सोचते उसके मन में विचार आया– ये सीताजी की खोज में जा रहे हैं। क्यों नहीं, मैं ही सीताजी का रूप धारण कर मार्ग में बैठ जाऊँ। अगर सीता-सीता कहकर मेरे पास आएँगे तो मैं समझ जाऊँगी कि ये कितने पानी के भगवान् हैं। अगर मुझे पहचान गए तो मैं

समझूँगी ठीक ही ये भगवान् हैं।

दूर से ही लक्ष्मणजी देखते हैं। देखते ही समझ जाते हैं कि सती ने सीता का रूप धारण किया है; लेकिन उन्होंने भगवान् श्रीराम से कहा नहीं। जब भगवान् श्रीराम सतीजी के निकट जाते हैं, तो पूछते हैं– 'आप अकेली घूम रही है, भगवान् शंकर कहाँ है?' अब तो बेचारी लाज के मारे आँखें बंद कर लेती है। अन्दर में देखती है– राम, लक्ष्मण, सीता तीनों हैं। फिर आँख खोलती है तो आगे राम, लक्ष्मण, सीता तीनों को देखती है। फिर आँख बंद कर खोलती है, तो अब वहाँ कोई नहीं। वहाँ से चल देती है। आती है भगवान् शंकर के पास। भगवान् शंकर पूछते हैं कि परीक्षा ले ली? इतनी बड़ी साध्वी नारी होकर भी झूठ बोल देती



है। अपने पति से कहती है कि मैंने परीक्षा नहीं ली। आप ही की तरह प्रणाम करके लौट आई। भगवान् शंकर ध्यानावस्थित होकर देखते हैं कि सती ने सीता का रूप धारण करके परीक्षा ली है, भगवान् राम की सीता तो मेरी आराध्य देवी है, मेरी माता है। सती ने जब मेरी माता का रूप धारण कर लिया तो यह पत्नी कैसे रह सकती है? उन्होंने सतीजी का मन से परित्याग कर दिया और प्रण किया कि आज से इनके साथ पति-पत्नी का संबंध नहीं रहेगा। जिस सती में यह शक्ति थी कि वे रूप बदल सकती थी, भगवान् की परीक्षा लेने के लिए तैयार हो सकती थी, उन सती के मन में भी सगुण लीला को देखकर सन्देह हो गया कि ये भगवान् हैं कि नहीं।

जब भगवान् राम और लक्ष्मणजी मेघनाद के नाग पाश में बंधे हुए हैं तो इस स्थिति को देखकर गरुड़जी के मन में भ्रम हो जाता है। वे मन-ही-मन सोचते हैं– अगर मैं नहीं गया होता तो दोनों-के-दोनों भाई बंधे ही रहते। ये भगवान् कैसे हैं? इसी तरह सगुण रूप को देखकर बहुतों के मन में भ्रम हुआ है। इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजी को कहना पड़ा–

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण जान नहिं कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय।।

निर्गुण में कोई भ्रम नहीं रह जाता। इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि सगुण उपासना को छोड़ दो। उपासना का आरम्भ स्थूल सगुण साकार से करो और अराधना का अन्त निर्गुण निराकार में जाकर करो। लेकिन यदि कोई जीवन भर स्थूल सगुण साकर को ही पकड़े रह जाय, निर्गुण निराकार की ओर नहीं जाए, तो जो पूर्ण कल्याण होना चाहिए उससे वह वंचित रह जाएगा। इसलिए स्थूल सगुण से आरम्भ करो, और निर्गुण निराकार में जाकर समाप्त करो। (शान्ति-सन्देश, सितम्बर– 1993 ई0)

41. सम्पत्ति शिवालय के त्रिशूल पर

भगवान् श्रीकृष्ण ध्यान की क्रिया बतलाते हुए कहते हैं– किसी दिशा को नहीं देखते हुए नासिकाग्र में देखो। तब क्या करना होगा? इसी का यत्न संत सद्‌गुरु से सीखना पड़ता है। एक लघु कथा सुनिए–

एक बूढ़े सेठजी थे। उन्होंने अपने पुत्र से कहा– 'बेटा! घर में निठल्ले बैठकर क्या करोगे, जाओ कुछ काम धंधा करो। कुछ पैसे कमाओ।' सेठ-पुत्र विदेश चला गया। बूढ़े बीमार हुए। खबर दी कि मेरा अन्तिम समय है, आकर भेंट करो। दूर होने के कारण आने में देर हो गई। सेठजी का शरीर छुट गया। घर आने पर उसने तिजोरी में पूर्व संचित सम्पत्ति की खोज की। वहाँ धन नहीं था। उसको चिन्ता हुई। किसी से पूछने पर भी कुछ पता नहीं चला। उसके मन



में आया– अगर पिताजी किसी को दिए होंगे, तो रोकड़-बही में जमा-खर्च होता ही होगा, उसमें लिखे होंगे। वह लड़का रोकड़-खाते के पन्ने उलटने लगा। उसमें उसने लिखा पाया– आज महीना अमुख, तिथि अमुख, बारह बजे दिन में मैंने अपनी सारी सम्पत्ति दरवाजे पर स्थित शिवालय के त्रिशूल पर रख दी है।

वह बाहर दरवाजे पर जाकर देखा– शिवालय तो है, त्रिशूल भी है, लेकिन इतनी सम्पत्ति त्रिशूल पर रहे तो कैसे? त्रिशूल पर तो कुछ भी नहीं है। तो क्या हमारे पिताजी झूठी बात लिखकर चले गए? नहीं। इसमें कोई राज है, जो हम नहीं समझ रहे हैं। वे चले गए मुनीमजी के यहाँ। वहाँ उनसे पूछा– 'आपको पता होगा, पिताजी ने अपनी सम्पत्ति क्या की?' मुनीमजी ने उत्तर दिया– ' हाँ, मुझे मालूम है। लेकिन वह महीना आने दो, वह तिथि आने दो, मुझे खबर करना। मैं जाऊँगा और बारह बजे दिन जैसे होगा, वैसे मैं तुमको पता बतला दूंगा।' वह महीना आया, वह तिथि आई, सेठ पुत्र मुनीमजी के यहाँ गया। उनको बुलाकर लाया और कहा– 'अब बतलाइए।' मुनीमजी ने कहा– 'बैठो।' जब बारह बजने में एक-दो मिनट की देरी रही, तो मुनीमजी ने कहा– 'चलो अब बतलाता हूँ।' ठीक बारह बजे दिन में शिवालय के त्रिशूल की छाया जहाँ पर पड़ती थी, मुनीमजी ने कहा– 'यहाँ खोदो।' जमीन खोदी गई, सारी सम्पत्ति मिल गई।

यह एक रहस्य की बात है। इसी तरह शास्त्रों में नासाग्र, नासिकाग्र, भ्रूवोर्मध्य आदि बातें लिखी हुई हैं, लेकिन जबतक संत सद्‌गुरु-रूप मुनीम से भेंट नहीं होगी, राज नहीं खुलेगा। त्रिशूल पर खोजते रह जाइएगा, कभी सम्पत्ति नहीं मिलेगी।

(शान्ति-सन्देश, जुलाई 1995 ई0)

र

42. कछुवी की दृष्टि

एक गृहस्थ ने एक साधु बाबा के पास जाकर कहा– 'हमलोग ध्यान करते हैं तो ध्यान में मन नहीं लगता है। और आप भी तो ध्यान करते हैं। ध्यान करते-करते इतने महान् कैसे हो गए?' साधु बाबा ने कहा– 'कल सबेरे आठ बजे आना, तब मैं तुमको बतला दूंगा।' दूसरे दिन ठीक आठ बजे गृहस्थ बाबा की कुटिया में पहुँचा तो देखा कि साधु बाबा वहाँ नहीं हैं। किसी से पूछा कि साधु बाबा कहाँ गए, तो उत्तर मिला कि वे बाड़ी में हैं। गृहस्थ बाड़ी में उनके पास जाकर बोला– 'बाबा! आपने आठ बजे का समय मुझे दिया था, इसलिए मैं आया हूँ। उपदेश दिया जाय कि कैसे भजन में मन लगेगा।' उस समय वे साधु बाबा बाड़ी में



धान के पौधों को उखाड़-उखाड़कर एक खेत से दूसरे खेत में लगा रहे थे। उनका स्वावलम्बी जीवन था। वे भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन नहीं करते थे। गृहस्थ ने पुनः प्रार्थना की– 'बाबा! उपदेश दीजिए।' साधु बाबा ने कहा– 'उपदेश तो मैं तुमको दे ही रहा हूँ जी।' गृहस्थ ने कहा– 'बाबा! मैं तो देख रहा हूँ कि आप इधर से पौधे उखाड़कर उधर रोप रहे हैं। इसमें उपदेश क्या हुआ?' साधु बाबा ने कहा– 'अरे भाई! तुम समझ नहीं रहे हो, यही तो उपदेश है कि जिस दुनियादारी में तुम्हारा मन गड़ा हुआ है, वहाँ से उखाड़ो और परमात्मा में लगाओ। तुम्हारा मन संसार में गड़ा हुआ है। संसार से मन को उखाड़ो और परमार्थ चिन्तन में रोपो।

कछुवी अंडा देती है सूखी जमीन में, लेकिन स्वयं पानी में रहती है। चिड़िया भी अंडा देती है। वह उसपर बैठकर उसको सेती है। लेकिन कछुवी अंडे पर बैठकर सेती नहीं है। वह जल में रहती है और अपनी सुरत से अंडों को सेती है। उसी में वह अंडा बढ़ता जाता है, पुष्ट होता है, और फूटता है। फिर बच्चा बनकर निकल आता है। कहते हैं– जो कछुवी अंडा देती है, उस कछुवी को यदि कोई मार दे, तो वह अंडा बढ़ता नहीं, सड़ जाता है। अब समझिए कछुवी कहाँ और अंडा कहाँ? वह जल में आहार करती है, विहार करती है, सब व्यवहार करती है। लेकिन उसकी सुरत उन अण्डों पर लगी रहती है। हम अपने गुरु महाराज के वचन में पाते हैं–

गुरु हरि चरण में प्रीति हो, युग काल क्या करे।
कछुवी की दृष्टि दृष्टि हो, जंजाल क्या करे।।

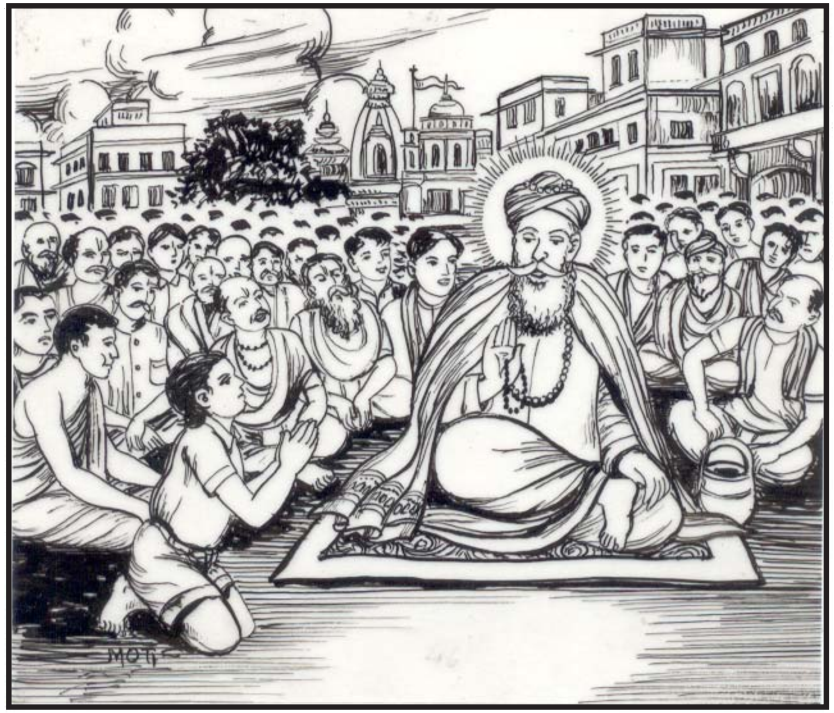
अगर हमारी कछुवी की-सी दृष्टि हो जाए, प्रभु पर ख्याल लगा हुआ रहे, तो फिर जग-जंजाल कुछ नहीं कर सकता। लौकिक और पारलौकिक दोनों जगत में जीने की कला संतमत बतलाता है। (शान्ति-सन्देश, दिसम्बर 1993 ई0)

र

43. जीवन का कोई ठिकाना नहीं

परम प्रभु परमात्मा ने अद्भुत सृष्टि की है और उनकी सृष्टि का विधान भी अद्भुत है। संसार में लोग आते हैं, कुछ दिन रहते हैं, फिर चले जाते हैं। सबके लिए परमात्मा ने जीवन-काल निश्चित कर दिया है। लेकिन सर्वसाधारण के लिए यह अज्ञात है। गुरु नानकदेवजी महाराज थे। उनका सत्संग होता था। बहुत सबेरे-सबेरे लोग सत्संग में इकट्ठे हो जाते थे। उस सत्संग में बहुत लोग जाते थे।

उस सत्संग में एक पाँच वर्ष का छोटा बच्चा भी जाता था। गुरु नानकदेवजी ने देखा कि यह बच्चा अपने अभिभावक के साथ बराबर सत्संग में आता है। एक दिन गुरु नानकदेवजी



महाराज ने उस बच्चे से पूछा– 'बच्चे! जो वयस्क लोग हैं, वे जानते हैं कि सत्संग से क्या लाभ है, इसलिए वे आते हैं। लेकिन, तुम इतने सबेरे-सबेरे क्या समझ कर आ जाते हो?'

उस छोटे बच्चे ने कहा– 'गुरु महाराज मैं तो कुछ समझता नहीं हूँ, लेकिन एक दिन की घटना है– मेरी माँ रोटी बना रही थी। चूल्हे के निकट मैं भी बैठा था। मैंने देखा जो मोटी-मोटी लकड़ियाँ हैं, वे तो देर से जलती हैं और जो पतली-पतली लकड़ियाँ हैं, टहनियाँ हैं, वे जल्दी-जल्दी जल जाती हैं। मुझे लगा कि जो बड़ी उम्र के लोग हैं, वे मोटी-मोटी लकड़ियों के समान हैं और जो कम उम्र के लोग हैं, वे पतली-पतली टहनियों के समान हैं। इसलिए मैंने सोचा कि जो बड़ी उम्र के लोग हैं, वे देर से मरेंगे और मैं जो पतली टहनी के समान हूँ, जल्द ही मर जाऊँगा। इसलिए सत्संग में आने लगा हूँ। आपके दर्शन करता हूँ।

गुरु नानकदेवजी प्रसन्न मुद्रा में हँसकर बोले– 'यह बच्चा नहीं है, बूढ़ा है, क्योंकि इसका ज्ञान परिपक्व है।' गुरु नानकदेवजी के आशीर्वाद से उसने लम्बी आयु पाई।

इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं है– भरोसा नहीं है कब चला जाएगा। इसलिए संतों का यह ज्ञान है कि हमलोगों को सत्संग करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए। इससे इस लोक में जीवन कल्याणमय होगा और परलोक में भी जीवन कल्याणमय होगा।

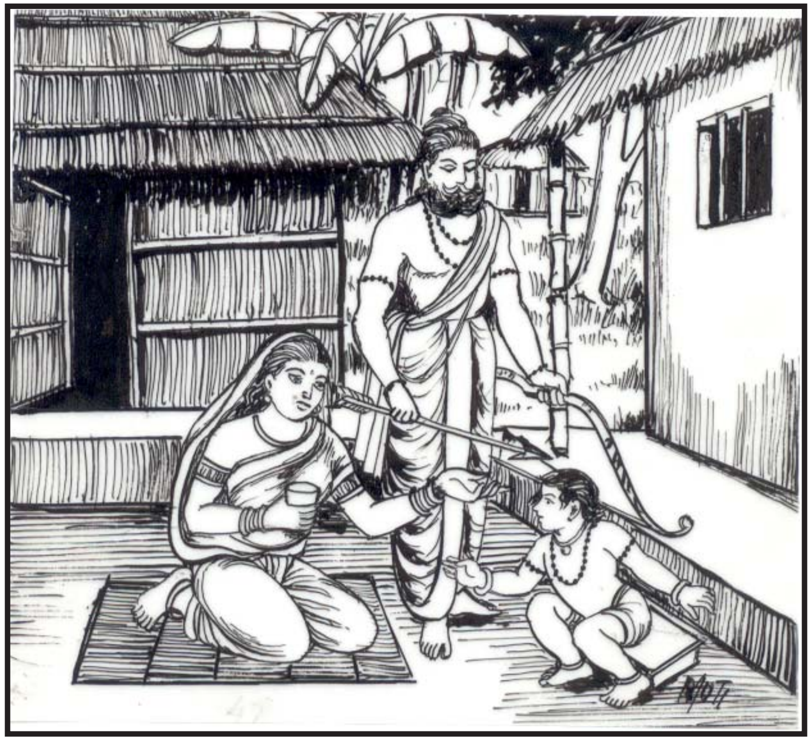
(शान्ति-सन्देश, जनवरी 1994 ई0)

र

44. जागतिक सुख दु:खप्रद है

विश्व में ऐसा कोई नहीं जो दैहिक, दैविक, भौतिक अथवा मानसिक; किसी-न-किसी पीड़ा से पीड़ित नहीं हो। लोग धनवान, बलवान, गुणवान, रूपवान, ऐश्वर्यवान प्रभृति होते हुए भी दु:खी क्यों दीखते हैं? यथार्थ बात यह है कि सुख है कहीं और उसकी खोज हो रही है कहीं। 'वस्तु कहीं ढूंढ़ै कहीं, केहि विधि आवै हाथ।' यही बात चरितार्थ हो रही है और जागतिक नश्वर भोग जो हमें मिलते हैं, बस इसी में हम मस्त रहते हैं।

आचार्य द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा थे। उनको गाय नहीं थी। अतएव बालपन में उनको पीने के लिए दूध नहीं मिलता था। उनके बाल-साथी जब बाल-क्रीड़ा के समय एकत्र होते, तो



कहते कि हमलोग गाय का दूध पीते हैं और तुमको पीने के लिए दूध नहीं मिलता है। ऐसा कहकर उसको चिढ़ाया करते थे। वे बेचारे रोते हुए अपनी माता के पास आते और कहते- 'माँ! मुझे गाय का दूध पिलाओ, मेरे संगी-साथी गाय का दूध पीकर खेलने जाते हैं।' बेचारी माता के पास लाचारी थी, गाय थी नहीं, वह करती क्या? अरवा चावल को पीसकर पानी में घोलकर और चीनी मिलाकर, उनको पीने देती और कहती- 'ले बेटा! गाय का दूध पी।' बड़ी प्रसन्नता के साथ अश्वत्थामा उसको पी लेते, और अपने साथियों से कहते कि 'अरे मैंने भी गाय का दूध पिया है।'

विचारणीय है कि वे ही अश्वत्थामा जब बड़े हुए होंगे और उनको मालूम हुआ होगा कि मुझे पीने के लिए गाय का दूध नहीं मिलता था, बल्कि चावल को पानी में पीसकर चीनी मिलाकर गाय का दूध के बदले मुझे पीने के लिए दिया जाता था, तो उनको कितनी आत्मग्लानि, कितनी लज्जा और कितना पश्चाताप होता होगा?

ठीक यही हालत हमारी है। हम भी मायिक मिथ्या सुख को जो विषयोपभोग करने पर हमें मिलता है, सत्य सुख समझकर मस्त हो रहे हैं- उन्मत्त से हो रहे हैं। जिन विषयों को सन्तों ने वमन सदृश जानकर परित्याग कर दिया, उन्हीं विषयों को हम श्वान की नाईं स्वाद से स्वीकार कर प्रसन्न होते हैं, फूले नहीं समाते हैं।

जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लिपटात।
जौं नर डारत वमन करि, स्वान स्वाद सौं खात।।

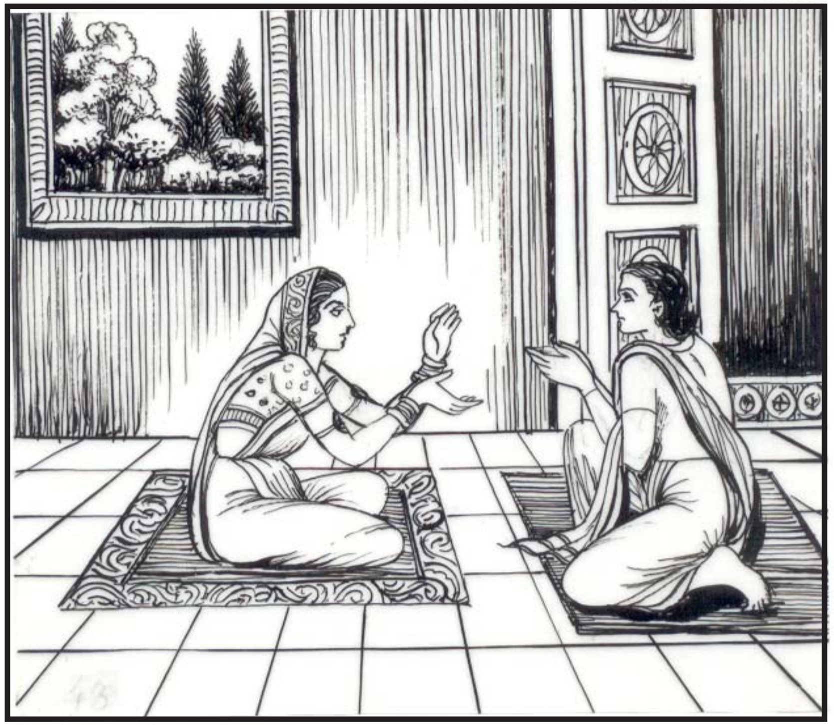
(शान्ति-सन्देश, फरवरी 1994 ई0)

र

45. गोपीचंद को माता का उपदेश

संतों की संगति, सत्य की संगति ही सत्संग है। जो सत्य है, वह त्रयकाल अबाधित है या उसका अस्तित्व है। जो असत्य है, उसका अस्तित्व नहीं है। सत्य था, है और रहेगा। अपरिवर्तनशील पदार्थ सत्य है।

गोपीचन्द भरथरी का नाम आपलोगों ने सुना होगा। गोपीचन्द के मन में जब वैराग्य हुआ, तो वे घर छोड़कर साधु-संतों की संगति में चले गए। गुरु की खोज में भटकते हुए एक दिन संत सद्गुरु के पास पहुँचे। उन्होंने आदेश दिया– 'जाओ, अपनी माता से भिक्षा मांग लाओ।' वे अपनी माताजी से भिक्षा मांगने के लिए गए। उनकी माताजी कोई सामान्य नारी नहीं थी, योग में



पहुँची हुई थी। उन्होंने कहा– 'स्वादिष्ट भोजन करना, मुलायम बिछावन पर सोना और मजबूत गढ़ के अन्दर रहना। जाओ मैं तुमको यही भिक्षा देती हूँ।'

गोपीचन्द ने उत्तर दिया– 'माताजी! आपके इन तीनों उपदेशों में से एक भी मेरे लिए सम्भव नहीं है। राज-पाट, घर-द्वार सब छोड़ चुका हूँ। अब स्वादिष्ट भोजन कहाँ, मुलायम शय्या कहाँ और गढ़ में रहना कहाँ?' उनकी माताजी ने कहा– 'बेटा! तुमने मेरी शिक्षा का अर्थ समझा नहीं। जब खूब भूख लगे तब रूखा-सूखा भी मिल जाएगा, तो वही स्वादिष्ट भोजन होगा। जब तुमको भूख नहीं लगेगी, तो उत्तम भोजन भी फीका लगेगा। इसलिए जब खूब भूख लगे तब भोजन करना। जब खूब नींद आ जाए, तब जहाँ सोवोगे, वही मुलायम शय्या हो जाएगा। और सत्संग ही मजबूत गढ़ है, उसमें अपने को रक्खो।

सत्संग गढ़ में वास हो भवपास क्या करे।

(मेँहीँ पदावली)

दुनिया क्या है? असत्य है। सत्य क्या है? परमप्रभु परमात्मा और इसका अंश जीवात्मा– सुरत सत्य है? इसकी सम्भाल करते रहो। इसकी सम्भाल क्या है?

सुरत फँसी संसार में ताते पड़िगा दूर।
सुरत बाँधि सुस्थिर करो, आठो पहर हजूर।।

सुरत संसार में फँस गई है, इसका सिमटाव करो। वृत्ति का जो बिखराव हो गया है, उसका एकत्रीकरण करो। सिमटाव करके इसको प्रभु से मिलाओ। इस जीव का उस पीव– परमात्मा से मिलन होगा, तभी असली सत्संग होगा।

(शान्ति-सन्देश, मई 1994 ई0)

र

46. नैसर्गिक आभा की महिमा

हम गन्धी की दूकान पर जाएँ, वहाँ हम इत्र मोल नहीं लें, मात्र खड़े ही रहें, इत्र बेचनेवाला भी हमको इत्र नहीं दे, फिर भी स्वभाविक ही उसकी दूकान से सुगन्ध आती है और वह सुगन्धी हमें लगती है। उसी तरह से संतों के निकट हम जाकर बैठें, सन्त कुछ नहीं भी बोलें, बिल्कुल मौन ही क्यों न रहें, फिर भी उनकी जो नैसर्गिक आभा है, वह हममें प्रवेश करेगी और हममें परिवर्त्तन लाएगी।

पाश्चात्य देश की कथा है। एक बहुत बड़े विद्वान थे, जिनका नाम था– अरस्तू। उन्हीं के समय में एक महात्मा हुए थे, जिनका नाम था सुकरात। अरस्तू के मन में बहुत सारी जिज्ञासाएँ थीं। वे सुकरात के पास जाकर अपनी जिज्ञासाओं का समाधान कराना चाहते थे। किन्तु मानवों में कुछ मानसिक कमजोरियाँ हुआ करती हैं। आजकल-आजकल कहकर वे सोच रहे थे– जाएँगे-जाएँगे। बहुत दिन बीत गए, वे जा नहीं पाए। कुछ संयोग ऐसा हुआ कि सुकरात पर मिथ्या दोषारोपण करके उनको कारागार में बंद कर दिया गया। उनको अवधि दी गई कि अगर चालीस दिनों के अन्दर आप अपने विचार में परिवर्त्तन ला सकें तो आप कारागार से मुक्त हो सकते हैं, अन्यथा आपको प्राणदण्ड दिया जाएगा। सुकरात जैसे महात्मा अपने विचार में क्यों कर परिवर्त्तन लाते। यह बात अरस्तू को ज्ञात हुई। अरस्तू ने सोचा– महात्मा सुकरात जैसे महान् व्यक्ति अपने विचार में परिवर्त्तन नहीं ला सकते। वे अपने विचार में दृढ़ रहेंगे, भले ही प्राणदण्ड स्वीकार कर लें। यही अवसर है कि हम अपनी जिज्ञासाओं का समाधान उनसे करावें। अरस्तू सुकरात से मिलने के लिए चलते हैं, जहाँ वे

कारागार में बंद थे। जैसे-जैसे वे सुकरात की ओर आगे बढ़ते हैं और जाते-जाते उनकी समीपता प्राप्त करते हैं, तो उनकी सारी जिज्ञासाओं का स्वतः समाधान हो गया। सुकरात से उनकी भेंट हुई। सुकरात पूछते हैं– 'कहिए आपके आने का क्या कारण है?' अरस्तू कहते हैं– 'मेरे मन में बहुत सारी जिज्ञासाएँ थीं। उन्हीं जिज्ञासाओं के समाधानार्थ आज मैं आपके पास आया था; किन्तु जैसे-जैसे मैं आपके पास आता गया, हमारी जिज्ञासाओं का समाधान होता गया। अब मात्र एक जिज्ञासा बच गई है, और वह यह कि ऐसा हुआ तो कैसे?' सुकरात ने उत्तर दिया– 'प्रत्येक व्यक्ति के शरीर से नैसर्गिक आभा निःसृत होती रहती है। उस आभा का एक क्षेत्र होता है। उस क्षेत्र से जब आप बाहर थे, तो आपके अन्दर बहुत सारी जिज्ञासाएँ थीं और जैसे-जैसे आप उस आभा में प्रवेश करते गए, आपकी जिज्ञासा का समाधान होता गया, और यहाँ आते-आते सारी जिज्ञासाओं का समाधान हो गया।'

संतों की अन्तर्यामिता के संबंध में रामकृष्ण परमहंस देवजी

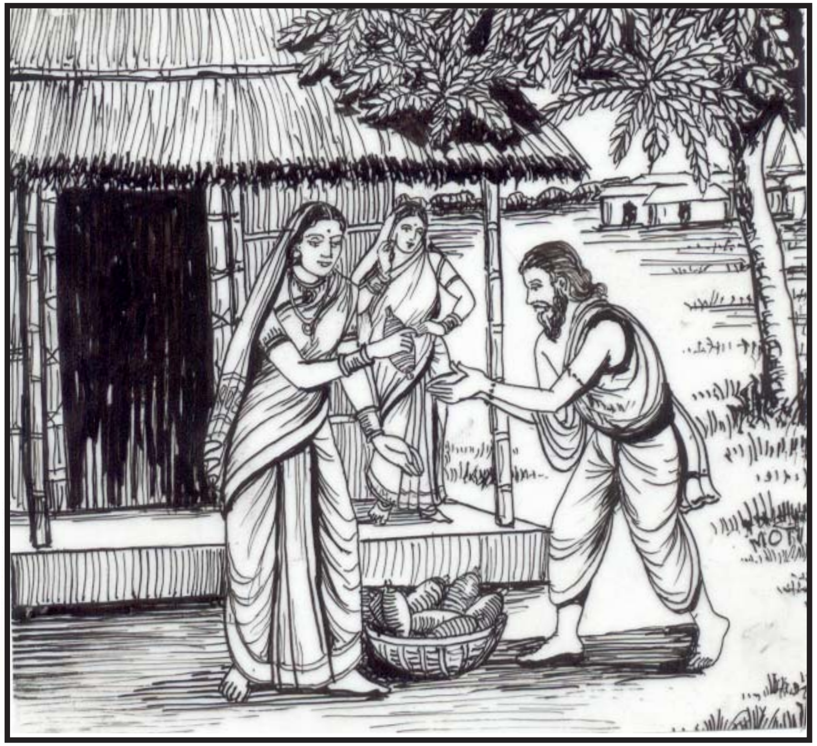


महाराज ने कहा है– 'सर्वसाधारण का हृदय संतों की दृष्टि में काँच की आलमारी की तरह होता है। काँच की आलमारी में आप कुछ भी रखिए, वह बाहर से दीखती है। उसी तरह संतों की दृष्टि इतनी पैनी होती है कि भीतर का भेदन कर आन्तरिक रहस्यों को जान लेती है। संतों के शरीर की आभा सतत् निःसृत होती रहती है। संतों का संग करनेवालों में यह नैसर्गिक आभा प्रवेश कर उसको पवित्र करती है और जीवन में उज्ज्वलता प्रदान करती है।

(शान्ति-सन्देश, नवम्बर 1994 ई0)

47. संत सुंदरदास की जन्म-कथा

संत दादू दयालजी महाराज बड़े उच्च कोटि के फकीर थे। उनके एक शिष्य थे जग्गाजी, गुरु के अनन्य भक्त। मधुकरीवृत्ति से गुरु-शिष्य जीवन-यापन करते थे। उन दिनों घर-घर चरखा चलता था। वे सूत मांगकर बुनकर को देते थे और बुनकर कपड़ा बनाकर दे देता था। इसी क्रम में एक दिन जग्गाजी चले सूत मांगने के लिए। वे घर-घर घूमते हुए कहते – 'दे माई सूत, दे माई सूत।' थोड़ा-थोड़ा सूत माताएँ देती जाती और ये झोले में रखते जाते। एक माई ने कुछ अधिक सूत देते हुए कहा– 'लो बाबा सूत।' इनके मुँह से निकल गया– 'लो माई पूत।' एक सन्त के मुँह से 'लो माई पूत' सुनकर उसका हृदय गद्गद् हो गया।



उसने और अधिक सूत लाकर झोले में डाल दिया। जग्गाजी सूत लेकर दादू दयालजी महाराज के पास पहुँचे। संत दादू दयालजी महाराज अन्तर्यामी और दूरदर्शी थे। संतों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। योग शिखोपनिषद् में लिखा है– 'बिन्दो मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात्।' जो साधना द्वारा विन्दु को प्राप्त कर लेते हैं, उसमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं, वे जहाँ कहीं भी देखना चाहें, एक स्थान पर बैठकर देख सकते हैं। उनकी दृष्टि दूरबीन का काम करती है। हमारे पूज्य गुरुदेव के वचन में भी आया है–

एक विन्दुता दुर्बीन हो, दुर्बीन क्या करे।
पिण्ड में ब्रह्माण्ड दरस हो, बाहर में क्या फिरे।।

संत दादू दयालजी महाराज जहाँ बैठे थे, वहीं से सब कुछ देख रहे थे। उनकी दृष्टि से कुछ भी ओझल नहीं था। फिर भी लोक-व्यवहार निर्वहण हेतु उन्होंने पूछा– 'इतनी थोड़ी ही देर में इतने अधिक सूत तुम कहाँ से ले आए?'

जग्गाजी ने उत्तर में निवेदित किया– ''गुरुदेव! सूत मांगने के लिए मैं कई घरों में गया। उन स्थानों से थोड़ा-थोड़ा सूत मिला। इसी क्रम में जब मैं एक अन्य गृह में गया, तो उस गृह से एक कन्या मेरे सामने आई। मैंने कहा– 'दो माई सूत!' उसने कुछ अधिक सूत मेरे झोले में डालकर कहा– 'लो बाबा सूत।' एकाएक मेरे मुँह से निकल गया– 'लो माई पूत।' तो उसने और अधिक सूत लाकर मुझे दे दिया।'' संत दादू दयालजी महाराज ने कहा– ''अरे! वह तो बन्ध्या है। उसको तुमने कैसे कह दिया– 'लो माई पूत।'' जग्गाजी बोले– 'गुरुदेव मुझसे भूल हो गई, क्षमा करें।' संत दादू दयालजी ने कहा– 'वत्स! साधु का वचन मिथ्या नहीं होता। तुमको ही उसके गर्भ में जाना होगा।' जग्गाजी

ने प्रार्थना की– 'गुरुदेव! इस जन्म की भाँति अगले जन्म में भी आप ही मेरे गुरुदेव हों, ऐसा आशीर्वचन देने का अनुग्रह करें।' दादू दयालजी महाराज ने कहा– 'एवमस्तु! (ऐसा ही होगा!) मैं तेरा गुरु होऊँगा। अच्छा, एक काम करो। उस लड़की के माता-पिता से कह दो कि उसका जहाँ विवाह हो, उसके पति से कह दे कि जो पुत्र होगा वह ग्यारह वर्ष की अवस्था में वैराग्य धारण कर लेगा। जग्गाजी ने आदेश का पालन किया।

कुछ वर्ष के बाद कन्या का विवाह हुआ और वह ससुराल गई। समय पाकर जग्गाजी का शरीर छुट गया और वह माई गर्भवती हुई। उसके गर्भ से एक सुन्दर बालक का जन्म हुआ।

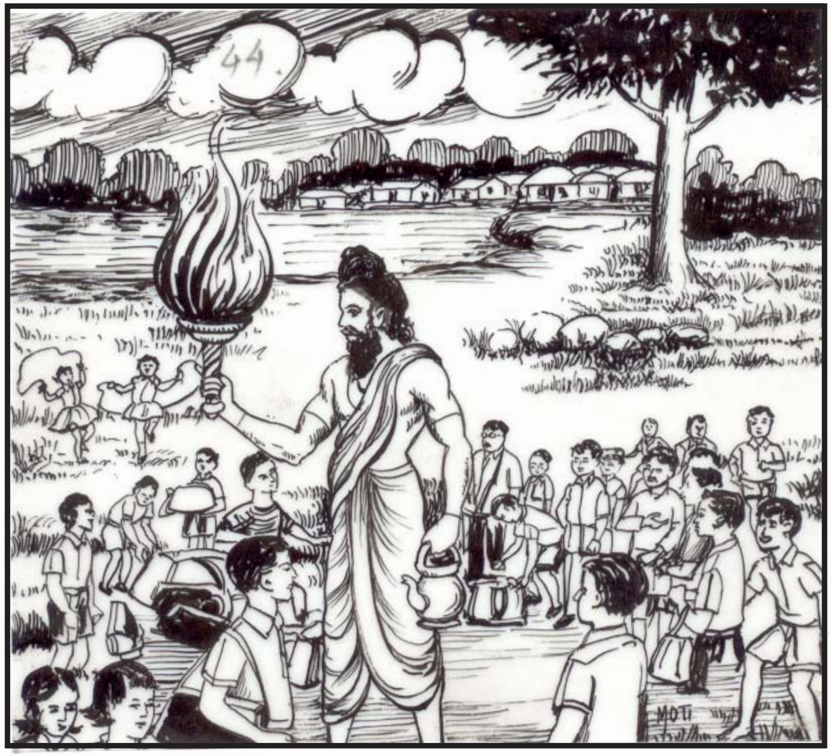
जब उसकी उम्र छः वर्ष की हुई, संत दादू दयालजी महाराज घूमते-फिरते वहाँ गए, जहाँ उस कन्या का विवाह हुआ था। पिता ने उस बालक को उनके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया। दादू दयालजी उस बालक के सिर पर हाथ रखते हुए बोले– 'यह बालक बड़ा सुन्दर है।' कहते हैं तबसे उसका नाम 'सुन्दर दास' पड़ गया। वे बढ़े और पढ़-लिखकर बहुत बड़े विद्वान संत हुए। उनकी बहुत अच्छी-अच्छी रचनाएँ हैं। सुन्दरदास जी कहते हैं– 'सुन्दर और मिलै सबही पर, सन्त समागम दुर्लभ भाई।' संसार में सब कुछ मिल जाय सुलभ है; लेकिन संतों का संग बड़ा दुर्लभ है। (शान्ति-सन्देश, नवम्बर 1994 ई0)

र

48. मानवता के बिना मानव कैसा?

एक साधु बाबा थे। वे दिन के समय मशाल जलाकर बाजार में घूम रहे थे। किसी ने पूछा– 'बाबा! आप दिन के समय मशाल लेकर क्यों घूम रहे हैं?' साधु बाबा ने उत्तर दिया– 'मैं मानव की खोज कर रहा हूँ।' उसने कहा– 'इतना बड़ा शहर है, इसमें आपको कोई मानव नहीं दीख रहा है?'

साधु बाबा ने अपनी मशाल उसके हाथ में देकर कहा– 'तुम्हीं देखो!' उसने उस प्रकाश में देखा कि लोगों का मानव-शरीर तो है, लेकिन उसमें मानवता नहीं है। और भी उसने देखा कि कोई कुत्ता है, कोई बिल्ली है, कोई ऊँट है, कोई बैल है आदि। हमलोग भी उस ज्ञान मशाल को अपने सामने करके देखें कि



हममें मानवता कितनी है। जितने अंश में मानवता हममें होगी, उतने ही अंश में हम मानव हैं।

किसी ने बड़ा ही अच्छा कहा है– अपने सुख के लिए जो दूसरे को दु:ख नहीं देता, वह मानव है। जो दूसरे को दु:ख देकर स्वयं सुख पाना चाहता है, वह दानव है। जो स्वयं दु:ख सहता है, किन्तु दूसरे को सुख देता है; वह देवता है। और जो स्वयं दु:ख सहकर दूसरों को दु:ख देता है, उसकी संज्ञा नहीं है। हम अपने लिए सोचें– हम किस श्रेणी में हैं।

(शान्ति-सन्देश, अक्टूबर 1993 ई0)

र

49. कूप मण्डूक न बनें

एक बार का प्रसंग है कि समुद्र का एक मेढ़क बाढ़ में बहकर एक कुएँ में आ गया। कुएँ में रहनेवाला जो मेढ़क था, उसने उससे पूछा– 'तुम कहाँ से आए हो?' समुद्र के मेढ़क ने कहा–'मैं समुद्र से आया हूँ।' कूप मण्डूक ने पूछा–'समुद्र कितना बड़ा होता है?' समुद्र के मेढ़क ने कहा–'समुद्र बहुत बड़ा होता है।' कूप मण्डूक ने अपना बित्ता फैलाकर पूछा– 'इतना बड़ा होता है?' उसने कहा– 'नहीं जी! बहुत बड़ा होता है।' कूप मण्डूक ने अपनी दोनों टांगें फैलाकर पूछा– 'समुद्र इतना बड़ा होता है?' समुद्र के मेढ़क ने उत्तर दिया– 'नहीं भाई! समुद्र बहुत बड़ा होता है।' कूप मण्डूक ने कुएँ के एक छोर से दूसरे छोर पर जाकर पूछा– 'कहो! इतना बड़ा होता है?' समुद्र

का मेढ़क बोला– 'नहीं भाई! कहाँ समुद्र और कहाँ कूप! कूप की बात तुम क्या कर रहे हो?' कूप मण्डूक ने झिझकते हुए कहा– 'गप्पा कहीं का! कूप से और बड़ा क्या हो सकता है?'

साम्प्रदायिक संकीर्णता वाले अपने को उसी तरह घेरे में



रखकर समझते हैं कि दुनिया इतनी ही बड़ी है। सन्तमत कहता है– 'अपनी साम्प्रदायिक दीवार को तोड़ो और देखो कि दुनिया में क्या है? सन्तमत साम्प्रदायिक संकीर्णता से बहुत ऊपर है।

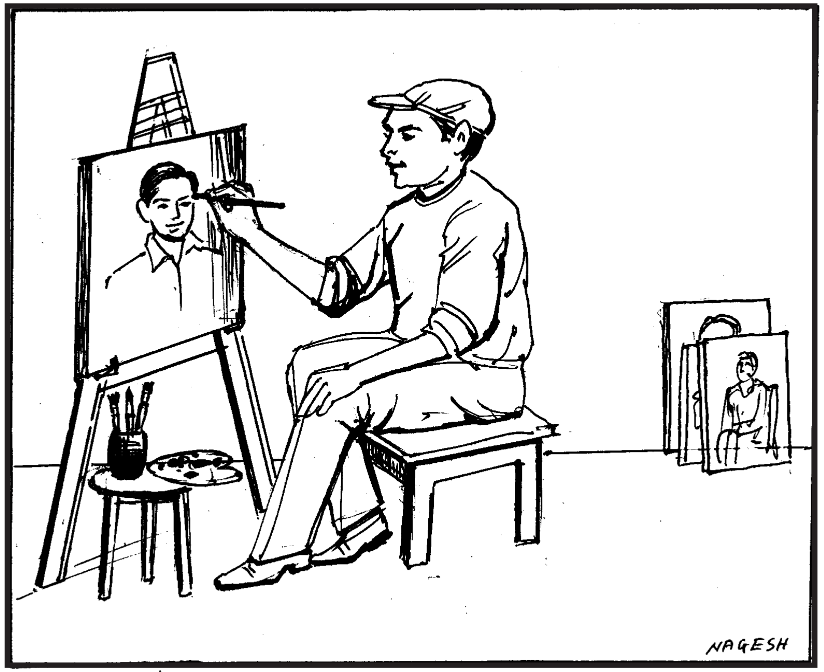
(शान्ति-सन्देश, जून 1996 ई0)

र

50. संग का रंग लगता है

धूल जब पवन का संग करती है, तो गगनगामिनी बन जाती है। वही धूल जब पानी का संग करती है, तो पाताल चली जाती है। उसी तरह सज्जनों-संतजनों के संग से व्यक्ति की इतनी ऊर्ध्वगति होती है कि वह परम प्रभु परमात्मा से जाकर मिलकर एकमेक हो जाता है। और जब कोई कुसंग करता है, तब वह किस रसातल में चला जाता है, कोई ठिकाना नहीं।

जापान में एक अच्छे कलाकार हुए। उनके मन में हुआ कि कोई ऐसा चित्र बनाया जाय, जिसको देखकर लोग आकर्षित हों। अधिक मात्रा में बिके, जिससे अधिक पैसे मिलें। वह कलाकार घूमने लगा। घूमते-घूमते वह एक राजा के यहाँ पहुँचा। राजा का एक लड़का था। वह देखने में बड़ा ही सुन्दर था, उसका चेहरा



बहुत ही कोमल था। सरलता उसके चेहरे से टपकती थी। कलाकार ने उसका फोटो लिया और कलात्मक ढंग से उसको सजाया। उसके इतने चित्र बिके कि वह मालामाल हो गया।

कुछ दिनों के बाद उसके मन में आया कि एक ऐसा चित्र बनाया जाय, जिस चित्र को देखते ही मालूम पड़े कि वह बड़ा क्रूर, निष्ठुर और हत्यारा है। घूमते-घूमते वह कारागार में पहुँच गया; क्योंकि बदमाश लोग तो वहीं रहते हैं। वहाँ उसने देखा कि एक ऐसा व्यक्ति है, जिसकी आँखों से क्रूरता टपकती थी। चेहरा डरावना लगता था। कलाकार ने कहा– 'भाई! तुम्हारा फोटो लेना चाहता हूँ।' उस व्यक्ति ने कहा– 'मेरा फोटो लेकर क्या करोगे?' उस कलाकार ने कहा कि एक बार मैंने एक चित्र बनाया था, जिसकी बिक्री से मुझे काफी पैसे मिले थे। अब मैं एक दूसरा चित्र बनाना चाहता हूँ। उसने पूछा कि पहला चित्र कहाँ है, जिससे कि तुमको बहुत पैसे मिले थे; मुझे दिखलाओ। वह चित्र उसके साथ था, उसने उसको दिखलाया। उस चित्र को देखकर वह फूट-फूटकर रोने लगा। कलाकर ने उसके रोने का कारण पूछा। उसने कहा– 'यह चित्र तो मेरा ही है। कुसंग के कारण आज मैं खूंखार बन गया हूँ और इस रूप में मुझे आप देख रहे हैं।'

कहने का तात्पर्य यह है कि जो सुसंग करते हैं उनको लाभ होता है और जो कुसंग करते हैं; उनको हानि होती है। धुआँ उठता है उससे काजल बन जाता है। उसको कोई छूना नहीं चाहता है कि हाथ काला हो जाएगा। लेकिन वही धुआँ जब स्याही बन जाता है तो किताब लिखते हैं, पुराण लिखते हैं, शास्त्र लिखते हैं। लोग उसका आदर करते हैं। (शान्ति-सन्देश, अगस्त 1995 ई0)

51. नारदजी द्वारा भगवान को शाप

भगवान् कृष्ण ने कहा है– मैं अपने भक्तों का योगक्षेम करता हूँ। जो भगवान् के भक्त होते हैं, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

नारद मुनि ने तपस्या की। भगवान् के दर्शन हुए। कामदेव की सेना इनपर चढ़ आई। लेकिन प्रभु की कृपा से इनपर उसका प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु अभी तो स्थूल–सगुण–साकार के ही दर्शन हुए थे। इसलिए जहाँ साकार है वहाँ अहंकार भी रहता है। नारद के मन में अहंकार आ गया कि हमने कामदेव को जीत



लिया। भगवान् ने देखा कि हमारे भक्त के हृदय में अहंकार का अंकुर निकल आया है। अगर कहीं वृक्ष का रूप धारण कर ले, फलने–फूलने लग जाय तो ठीक नहीं है। इसलिए अंकुर को ही तोड़ देना ठीक है।

भगवान् ने लीला रची। एक माया की नगरी बसाई। उस माया की नगरी में एक राजा था। नारद मुनिजी उसी माया की नगरी से जा रहे थे। उन्होंने देखा कि नगर बहुत सुसज्जित है। राजा के यहाँ नारद मुनि जाते हैं। राजा देखते हैं कि हमारे यहाँ मुनिजी आए हैं। राजा ने उनका बड़ा आदर–सत्कार किया। राजा को एक लड़की थी, जो विवाह के योग्य हो गई थी। राजा ने अपनी लड़की को बुलाया और कहा कि मुनिजी! हमारी लड़की का हाथ देखिए– इसकी शादी कहाँ होगी, कैसे वर के साथ होगी? नारदजी ने जब उस लड़की का हाथ देखा, तो हस्तरेखा से पता चला कि इसके पति त्रिभुवनपति होंगे। नारदजी का मन ललच गया कि अगर मैं ही इसका पति बन जाऊँ, तो मैं त्रिभुवनपति हो जाऊँगा। नारदजी ने यह नहीं समझा कि त्रिभुवनपति ही इसके पति होंगे। नारदजी की समझ में बात उल्टी आई। स्वयंवर रचा गया। देश–देश से राजा और राजकुमार आए। स्वयंवर के कार्यक्रम में राजकुमारी जिसके गले में माला डालेगी, वही उसका पति होगा, ऐसा विधान था। नारदजी के मन में हुआ– क्यों नहीं भगवान् से सुन्दरता का वरदान ले लूँ, जिससे मेरी सुन्दरता को देखकर राजकुमारी मेरे ही गले में माला डाल दे। ऐसा विचारकर नारदजी ने भगवान् का स्मरण किया। भगवान् उनके सामने प्रकट हो गए और पूछा– 'कहिए नारदजी! क्या चाहिए?' नारदजी ने कहा– 'भगवन्! मुझे सुन्दरता दीजिए।'

भगवान् ने कहा– 'नारदजी! आप चिन्ता न करें। जिसमें आपका कल्याण होगा वही करूँगा।' भगवान् ने नारदजी का शरीर तो सुन्दर बना दिया परन्तु मुँह बन्दर के जैसा बना दिया।

नारदजी अपने शरीर की सुन्दरता को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और जहाँ राजा-महाराजा और राजकुमार सब बैठे हुए थे, उन्हीं के बीच में जाकर बैठ गए। राजकुमारी हाथ में माला लेकर राजसभा में चतुर्दिक घूमती है। घूमते-घूमते जैसे ही उसकी नजर बन्दरवाले मुँह पर पड़ती है, तो वह दूसरी तरफ चली जाती है। नारदजी के मन में होता है कि राजकुमारी मुझे देख नहीं पा रही है, इसलिए घूम गई है। तो जिधर राजकुमारी जाती थी, उधर जाकर वे आगे में बैठ जाते थे। बन्दर का मुँह देखकर राजकुमारी फिर लौट जाती थी। इस प्रकार कितनी बार नारदजी उठे और बैठे लेकिन राजकुमारी उनके गले में माला डालती नहीं है। इतने में भगवान् आते हैं। राजकुमारी उन्हीं के गले में माला डाल देती है। राजकुमारी को लेकर भगवान् चले जाते हैं।

नारदजी बड़े आकुल-व्याकुल हो गए। सोचने लगे– हम क्या चाह रहे थे, क्या हो गया। उसी सभा में महादेवजी के दो गण बैठे हुए थे। उन्होंने कहा– 'नारदजी! जरा अपना मुँह तो देखिए कैसा है?' जब वे आइने में अपना मुँह देखते हैं, तो पाते हैं कि मुँह बन्दर का-सा है। उनके मन में क्रोधाग्नि जलने लगी। वे सोचने लगे कि भगवान् ने मेरे साथ छल किया। आशीर्वाद माँगा उनसे सुन्दरता का और दे दिया बन्दर का मुँह। क्रोध से आग बबुला होकर वहाँ से वे चल पड़े। रास्ते में भगवान् से भेंट हो गई। उन्होंने देखा कि भगवान् राजकुमारी को लेकर जा रहे हैं। अब तो और क्रोध दुगुनी हो गई, मानो आग में घी डाल दिया

गया हो। नारदजी ने भगवान् को शाप दिया– 'मैं आपको शाप देता हूँ कि आप भी मेरी तरह नारी के विरह में व्याकुल होंगे। आपने मेरा मुँह बन्दर का-सा बना दिया, तो बन्दर ही आपके सहयोगी होंगे।'

भगवान् ने नारदजी के शाप को अंगीकार किया और सीताहरण होने पर भगवान् ने नारी विरह का नाटक करके दिखला दिया। साथ ही लंका पर विजय पाने के लिए बानरों की सहायता ली। सीताहरण होने पर नारदजी ने देखा कि भगवान् जंगल-जंगल घूम रहे हैं। तो उनके मन में बड़ा पश्चाताप हुआ और मन-ही-मन कहने लगे कि भगवान् को शाप देकर मैंने अच्छा नहीं किया।

वे भगवान् के पास पहुँचे। उनसे कथोपकथन के उपरान्त नारदजी पूछते हैं– 'भगवन्! जब मेरा मन विवाह करने को हुआ, तो आपने विवाह करने क्यों नहीं दिया?' भगवान् ने उत्तर दिया– 'जिस तरह किसी बालक को अगर फोड़ा निकल आता है और उस फोड़े के कष्ट से बच्चा व्याकुल होता है तो उस बच्चे को लेकर उसकी माता डॉक्टर के पास जाती है और फोड़े का ऑपरेशन कराती है। ऑपरेशन इसलिए नहीं कराती है कि बच्चे को और कष्ट हो, बल्कि बच्चे को और कष्ट नहीं हो, इसके लिए ऑपरेशन कराती है। घाव पर मरहम पट्टी कराके ठीक करवाती है। उसी तरह आपके मन में जो घाव हो गया था, उसी घाव को दूर करने के लिए मैंने वैसा किया था। आपके अहंकार का संहार करने के लिए मुझे ऐसा करना पड़ा।

र (शान्ति-संन्देश, मई 1996 ई0)

52. कर्म्फल भोगना ही पड़ता है

हम जो कुछ भी कर्म करते हैं, उसमें जाने-अनजाने कुछ पुण्य, कुछ पाप; कुछ शुभ, कुछ अशुभ कर्म हो जाते हैं। शुभ कर्मों का फल सुख और अशुभ कर्मों का फल दु:ख होता है।

महाराजा युधिष्ठिर धर्मराज के अवतार थे, कभी झूठ नहीं बोले थे। किन्तु समय आया, उनसे भी थोड़ी चूक हो गई। महाभारत के युद्ध-मैदान में उन्होंने कहा– 'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो।' इस झूठ का परिणाम हुआ कि महाराजा युधिष्ठिर को नरक देखना पड़ा। इस तरह हमसे जाने-अनजाने में कुछ-न-कुछ शुभाशुभ कर्म होते ही रहते हैं। ऐसा कोई नहीं है, जो कह सकता है कि मुझसे कभी कोई अशुभ कर्म हुआ ही नहीं।



कुछ-न-कुछ अशुभ कर्म होता ही है।

महाभारत के युद्ध-क्षेत्र में भीष्म पितामह शरशय्या पर पड़े थे। इतने वाण उनके शरीर में लगे थे कि उनके शरीर पर कोई भी भाग खाली नहीं था। उस दिन का युद्ध बंद हो गया। कौरव-पाण्डव आदि क्रम-क्रम से उनके दर्शनार्थ आने लगे। उसी क्रम में भगवान् श्रीकृष्ण भी वहाँ आए। भीष्म ने कहा– 'कृष्ण! पूर्व के 100 जन्मों की बातें मुझे याद हैं। मुझसे पूर्व के 100 जन्मों में कोई भी ऐसा अशुभ कर्म नहीं बना है, जिसका परिणाम दु:ख हो। फिर किस कर्म का फल मुझे आज भोगना पड़ रहा है?'

भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया– 'राजन्! इस जन्म से पूर्व के 101वें जन्म में आप राजा थे। रथ पर सवार होकर आप कहीं जा रहे थे। कुछ दूर निकल चुकने पर एक साँप ने आपका रास्ता काट दिया था। आपने उस साँप को मरवाकर फेंकवा दिया था। साँप जाकर बबूल के पेड़ पर गिरा और बबूल के काँटे उसके शरीर में जहाँ-तहाँ चुभ गए। उस समय तक साँप के प्राण निकले नहीं थे। बाद में उसी बबूल के काँटों पर तड़प-तड़प कर उस साँप ने अपने प्राण छोड़े। उसी पाप का परिणाम है कि आज आप काँटों पर पड़े हैं।

अशुभ कर्मों का फल नरक और शुभ कर्मों का फल स्वर्ग होता है।

कर भला होवे भला करके भलाई देख ले।
कर बुरा होवे बुरा करके बुराई देख ले।।

हमारा जो किया हुआ शुभ वा अशुभ कर्म है, उस कर्म का फलोपभोग तो हमें करना ही पड़ेगा।

र (शान्ति-सन्देश, सितम्बर 1996 ई0)

53. संत-दर्शन से हृदय-परिवर्तन

जैन धर्म में मृगावती नाम की एक सती हुई है। पहले तो वह राजरानी थी, पीछे श्रमणी बन गई। उसके पति का नाम था राजा चण्ड प्रत्योदन। मृगावती देखने में अति सुन्दरी थी। उसके यहाँ एक कलाकार रहता था। संयोग से एक दिन मृगावती छत के ऊपर घूम रही थी। मृगावती को उस कलाकार ने देखा। उसका उसने एक चित्र बनाया। मृगावती देखने में अतीवसुन्दरी तो थी ही। उस कलाकार ने कलात्मक ढंग से बहुत सजा-धजाकर उसका चित्र बनाया और उस चित्र को राजा के सामने रखा। उस चित्र को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और कलाकार को पुरस्कृत करना चाहता ही था कि राजा की नजर उस चित्र की जांघ पर पड़ गई, जहाँ एक काला तिल का-सा दाग था। राजा के मन में कलाकार के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया। उसने सोचा- कलाकार सुन्दर-से-सुन्दर चित्र बना सकता है; लेकिन जो अंग वस्त्र से आच्छादित हो, उसको बिना देखे चित्र में कैसे बना सकता है! हो-न-हो कलाकार के साथ मृगावती का कुसंग हो।

मंत्री ने उन्हें समझाया- ऐसी बात नहीं हो सकती। मृगावती सती है और कलाकार भी पवित्र है। लेकिन राजा को मंत्री की बातों पर विश्वास नहीं हुआ। मंत्री ने विश्वास दिलाने के लिए कहा कि यह कलाकार इतना कुशल है कि इसको किसी के शरीर का कोई भी एक छोटा-से-छोटा अंग दिखला दिया जाय, तो वह उसके सम्पूर्ण शरीर का हू-ब-हू चित्र बनाकर सामने रख देगा। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए मंत्री ने एक कुबड़ी नारी को परदे में रखा और मात्र उसका एक अंगूठा कलाकार को दिखलाया। मात्र अंगूठा देखकर उस कलाकर ने उसके पूरे शरीर

का ठीक-ठीक चित्र बनाकर सबके सामने रख दिया, जिसमें उस नारी का कुबड़ भी उभरा हुआ था।

मंत्री ने राजा से कहा- 'देखिए, कुबड़ी परदे में थी, फिर भी उसका सही चित्र कलाकार ने बना दिया है।' लेकिन राजा को संतोष नहीं हुआ। उसने कलाकार को अपमानित करके निष्कासित कर दिया। इससे उसको बहुत दुःख हुआ और उसने मन में बदला लेने की ठान ली। कलाकार मृगावती का चित्र लेकर चण्डप्रत्योदन से भी एक बड़े राजा के पास गया। वह राजा चित्र देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। कलाकार ने कहा- 'राजन! आप जैसे सुयोग्य श्रेष्ठ राजा के योग्य ही यह देवांगना-सी नारी है, जो कि एक छोटे राजा के पास रह रही है।' वह राजा कलाकार की बातों में आ गया और उसने राजा प्रत्योदन के पास पत्र लिखा कि तुम अपनी पत्नी को मेरे पास भेज दो। भला अपनी पत्नी को कौन किसके पास भेजता है? नहीं भेजा। उस राजा ने सेना लेकर राजा प्रत्योदन पर चढ़ाई कर दी। राजा का किला चतुरंगिनी सेना से घिर गया। जब चण्डप्रत्योदन को मालूम हुआ कि दुश्मन की फौज ने किला घेर लिया है, तो डर के मारे उसका हार्ट-एटैक हो गया और तत्क्षण उसका प्राणान्त हो गया।

आक्रामक राजा को मृगावती ने समझाया। प्रेम करने का एक समय होता है। अभी मेरे ऊपर वज्र का पहाड़ गिर गया है। मुझे शान्ति लेने दें। अभी आप वापस जाएँ, मैं पीछे बात करूँगी। मृगावती की बात सुनकर राजा लौट गया। बीच-बीच में परस्पर पत्राचार होता रहा। येन-केन-प्रकारेण मृगावती टालती रही। इस प्रकार कई वर्ष बीत गए। राजा ने देखा मृगावती टाल-मटोल कर रही है। उसने फिर फौज लेकर मृगावती पर चढ़ाई कर दी। फौज से किले के घिर जाने पर मंत्री ने मृगावती से पूछा- 'अब क्या

किया जाय?' संयोग ऐसा होता है कि उसी अवसर पर भगवान् महावीर आते हैं और आम्रवन में जाकर ठहरते हैं। मृगावती को



जब मालूम हुआ कि भगवान् आम्रवन में आए हुए हैं, तो वह अपने किले का दरवाजा खुलवाती है और पुत्र के साथ भगवान् के दर्शनार्थ वहाँ के लिए प्रस्थान करती है। मंत्री ने मना किया, कहा– 'दुश्मन ने किले को घेर लिया है। जैसे ही फाटक खुलेगा, दुश्मन प्रवेश कर जाएँगे।' मृगावती ने कहा– 'भगवान् हमारी रक्षा करेंगे। मुझे जाने दो।' मृगावती आम्रवन में पहुँचकर भगवान् महावीर के दर्शन करती है। संयोग ऐसा होता है कि उसी समय वह राजा भी भगवान् के दर्शनार्थ वहीं आता है। भगवान् के दर्शन मात्र से उसका मन पवित्र हो जाता है। मृगावती को बहन कहकर सम्बोधित करता है और जिज्ञासा करता है– 'कहो बहन कुशल समाचार?' मृगावती पुत्र को आगे करती हुई कहती है– 'सब कुशल है। यह तुम्हारा भाँजा है, इसे सम्भालो।' संत के दर्शन से राजा का हृदय परिवर्तन हो चुका था। उसने लड़के को वहाँ का राजा बना दिया और स्वयं ससैन्य वापस लौट गया।

र (शान्ति-सन्देश, अगस्त– 1995 ई0)

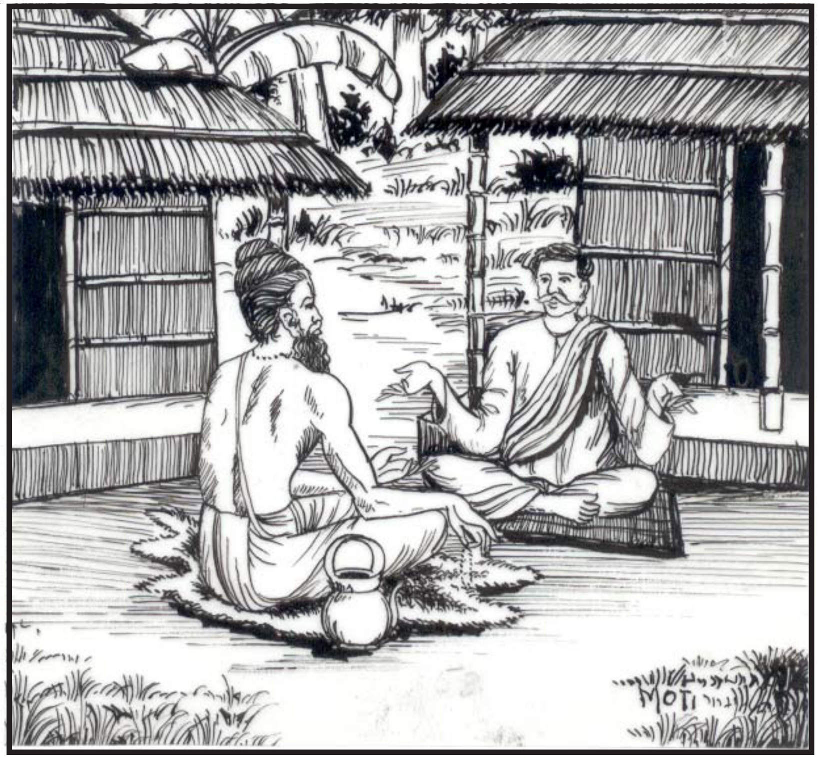
54. ईश्वर कहाँ रहते हैं?

वेदान्त में तीन सत्ताएँ मानी गई हैं– पारमार्थिक सत्ता, व्यवहारिक सत्ता और प्रतिभासित सत्ता। पारमार्थिक सत्ता कर्त्ता परमपुरुष परमात्मा है। व्यवहारिक सत्ता जीव है और प्रतिभासित सत्ता जगत है। जगत, जीव और जगदीश– ये तीन हैं। कितने लोगों का कथन है कि जगत और जीव हैं, जगदीश नहीं है। इस संदर्भ में एक घटना सुनाना चाहूंगा।

एक सज्जन यात्रा कर रहे थे। घूमते हुए वे एक जंगल में पहुँचे। उस जंगल में एक महात्माजी से उनकी भेंट हुई। उक्त सज्जन ने महात्माजी से पूछा– 'महात्माजी आप अकेले इस जंगल में क्या करते हैं?' महात्माजी ने उत्तर दिया– 'भगवद्भजन करता हूँ। ईश्वर-चिन्तन करता हूँ।' उक्त सज्जन ने पूछा– 'क्या ईश्वर है?' महात्माजी ने प्रत्युत्तर में कहा– 'हाँ ईश्वर है।' उक्त सज्जन ने कहा– 'ईश्वर है, यह मैं नहीं मानता हूँ।' महात्माजी ने कहा– 'ठीक है, तुम ईश्वर को नहीं मानो। मैं अमेरिका को नहीं मानता हूँ।' उक्त सज्जन ने कहा– 'महात्माजी! अमेरिका तो है, आपको मेरी बात पर विश्वास नहीं होता तो भूगोल पढ़कर देखिए, आपको पता चल जाएगा कि अमेरिका कहाँ है?' साधु बाबा ने कहा– 'तुमको मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा है। तुम वेद, उपनिषद् और संतों की वाणियाँ पढ़कर देखो, तुमको पता चल जाएगा कि ईश्वर कहाँ है?' उक्त सज्जन ने कहा– 'महात्माजी मैं अमेरिका का पता आपको बताता हूँ सुनिए, आप दिल्ली में हवाई जहाज पर बैठिए और इंगलैण्ड पहुँचिए, फिर वहाँ से अमेरिका जानेवाले विमान पर बैठिए और वहाँ जाइए।' महात्माजी ने कहा– 'तुम मेरी बात सुनो। तुम सुषुम्ना में बैठो। वहाँ से आगे बढ़ो और सहस्त्रदलकमल, त्रिकुटी, शून्य, महाशून्य, भंवर गुफा होते हुए सत्तलोक पहुँच जाओ। अवश्य ही, अन्दर में पहले विन्दु के विमान पर और पीछे

नाद के वायुयान पर बैठना होगा।'

उक्त सज्जन ने कहा– 'महात्माजी! ऐसा लगता है कि आपको मेरी बात पर विश्वास नहीं होता है। सुनिए, एक ग्लोब



होता है। उसमें सम्पूर्ण विश्व के चित्र बने रहते हैं, उसमें देखकर आपको पता चल जाएगा कि अमेरिका कहाँ है?' साधु बाबा ने कहा– 'बिहार में एक सन्त हुए हैं– महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज। उन्होंने सत्संग-योग नामकी एक पुस्तक लिखी है, जिसके चौथे भाग में उन्होंने पिण्ड-ब्रह्माण्ड का चित्र दिया है। उसको देखने से तुमको पता चल जाएगा कि ईश्वर कहाँ रहते हैं?' उक्त सज्जन ने हाथ जोड़कर कहा– 'महाराज जी! अब मेरा भ्रम दूर हो गया। आपने प्रमाणित कर दिया कि ईश्वर है।'

(शान्ति-सन्देश, अगस्त 1996 ई0)

55. संध्या कैसे करूँ ?

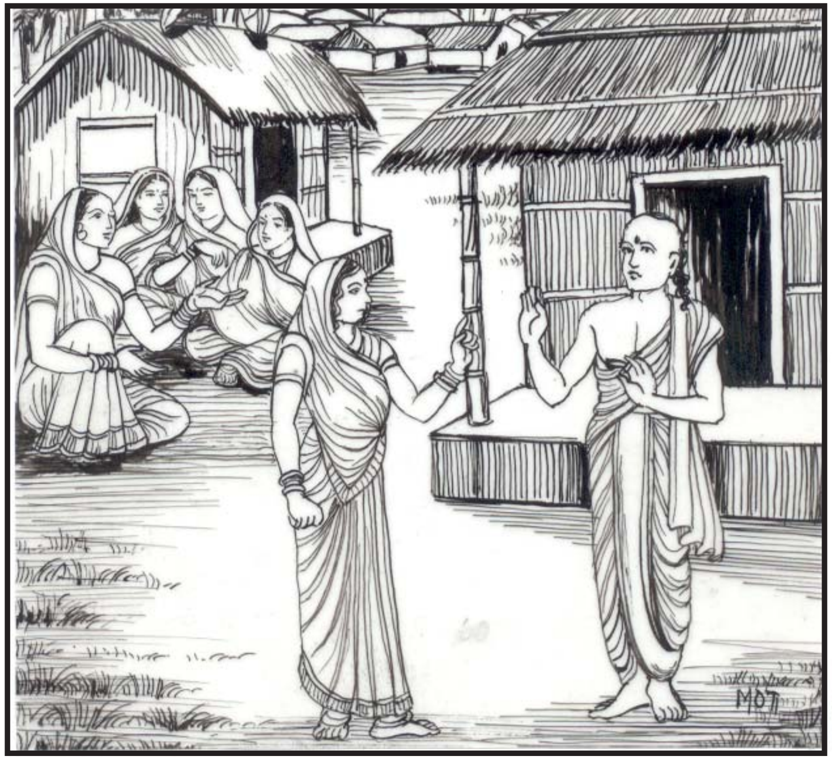
हमारे गुरु महाराज कहते हैं– आपके अन्दर में जो सूर्य है, उसके प्रकाश के सामने इस स्थूलाकाश के सूर्य का प्रकाश अंधकारवत् है। अर्थात् उस प्रकाश के सामने यह प्रकाश घोर अंधकारमय मालूम होता है।

एक ब्राह्मण देवता थे। वे अन्तस्साधना करते थे। अन्य ब्राह्मण जिस तरह बाह्य पूजा, अर्चन, वंदन, तर्पण, होम आदि करते हैं, उस तरह वे नहीं करते थे। उनकी धर्मपत्नी जब घूमने-फिरने अथवा किसी कार्य विशेष से कहीं जाती, तो उनसे अड़ोस-पड़ोस की महिलाएँ कहतीं– 'अरी! तुम तो ब्राह्मणी हो, लेकिन तुम्हारा विवाह शूद्र से हो गया है, क्योंकि तुम्हारे पति तो कभी सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ आदि कुछ करते नहीं हैं।' ब्राह्मणी घर लौटकर आती और पतिदेव से सारी बातें कहती। उनके पतिदेव सुनकर मुस्कुराकर रह जाते, कुछ बोलते नहीं। इसी तरह कितने दिन बीत गए। उपालम्भ सुनते-सुनते ब्राह्मणी तंग आ गई। पुनः एक दिन एक पड़ोसी महिला ने उन्हें बहुत तरह से बहुत कुछ कह दिया। उस दिन वह बहुत दुःखी होकर रो-रोकर अपने पतिदेव से कहने लगी– 'पतिदेव! मैं पड़ोसिनों का ताना सुनते-सुनते तंग आ गई हूँ, आप भी और ब्राह्मणों की तरह सन्ध्या-वंदन क्यों नहीं करते? ब्राह्मणोचित कर्म तो आपको करना ही चाहिए। मैं बराबर आपसे कहती हूँ, प्रार्थना करती हूँ, किन्तु आप मेरी बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं देते।' इस पर वे ब्राह्मण देवता बोले– 'देवि! तुम नहीं जानती हो, और देवियाँ भी नहीं जानतीं, जो तुमको उपालम्भ देती रहती हैं। अरी, सुनो– 'हृदय आकाश में चैतन्य रूप सूर्य बराबर उगा रहता है, न कभी अस्त होता है और न कभी उदय होता है, सन्ध्या कैसे करूँ।'

सन्ध्या किसको कहते हैं? जब रात्रि का अस्त होता है और

दिन का प्रारम्भ होता है, तो उन दोनों की संधिबेला को संध्या कहते हैं। इसी तरह जब दिन का अन्त होता है और रात्रि का प्रारम्भ होता है, उसको भी सन्ध्या कहते हैं। तथा एक मध्याह्नकाल को सन्ध्या कहते हैं। ये ही त्रिकाल सन्ध्याएँ हैं।

यह बाहर का सूर्य जड़ सूर्य है, जिसका उदय और अस्त होना होता है। किन्तु हमारे अन्दर में चैतन्य सूर्य है, जो बराबर



उगा ही रहता है। वह न कभी उगता है और न कभी डुबता है। कोई साधक अन्तःसाधना करता है, तो उसको अपने अन्दर में चैतन्यरूपी सूर्य के दर्शन होते हैं।

र (शान्ति-सन्देश, सितम्बर 1996 ई0)

56. संत-भोजन की महिमा

महाराजा युधिष्ठिर ने जो राजसूय यज्ञ किया था, उसमें उन्होंने बहुत से लोगों को भोजन कराया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था कि जब यज्ञ पूरा होगा, तो तीन बार घंटा बजेगा। लेकिन पूर्णाहुति हो जाने के बाद एक बार भी घंटा नहीं बजा। युधिष्ठिर महाराज ने भगवान् श्रीकृष्ण से जिज्ञासा की– 'आपने कहा था कि यज्ञ पूरा होने पर तीन बार घंटा बजेगा, किन्तु एक बार भी नहीं बजा।' भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा– 'हाँ आपने तो बहुतों को भोजन कराया है, लेकिन संत भोजन बाकी बच गया है, इसलिए घंटा नहीं बजा।' युधिष्ठिर महाराज ने पूछा– 'इतने लोगों को भोजन कराया गया, इनमें से कोई सन्त नहीं थे? कोई भक्त नहीं थे? संत कहाँ हैं? बताइए।' भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा– 'काशी में श्वपच भगत हैं, उनको सादर लाकर भोजन कराइए। तब घंटा बजेगा।'

महाराजा युधिष्ठिर ने अपने कनिष्ट भ्राता भीम को उनको बुलाने के लिए भेजा। भीम राजपुत्र था, उसमें स्वभाविक ही राजमद था। उसकी भुजा में दस हजार हाथियों का बल रहने के कारण तन-मद भी था, मन-मद भी था, जाति-मद भी था, धन-मद भी था और जवानी का मद भी था। सभी प्रकार के मदों में माता हुआ वह श्वपच भगतजी के पास गया और उनसे कहा– 'महाराज युधिष्ठिर के यहाँ यज्ञ है। वहाँ चलकर भोजन कीजिए। उनकी ओर से मैं आपको निमंत्रण देने के लिए आया हूँ।' श्वपच भगतजी ने कहा– 'देखो, बात तो पीछे करुँगा। मैं पूजा पर बैठ गया हूँ। वह देखो, मेरी सुमरनी खूंटी पर लटकी हुई है। जरा मुझे दो। पूजा के बाद तुमसे बात करूँगा।' भीम के मन में हुआ कि

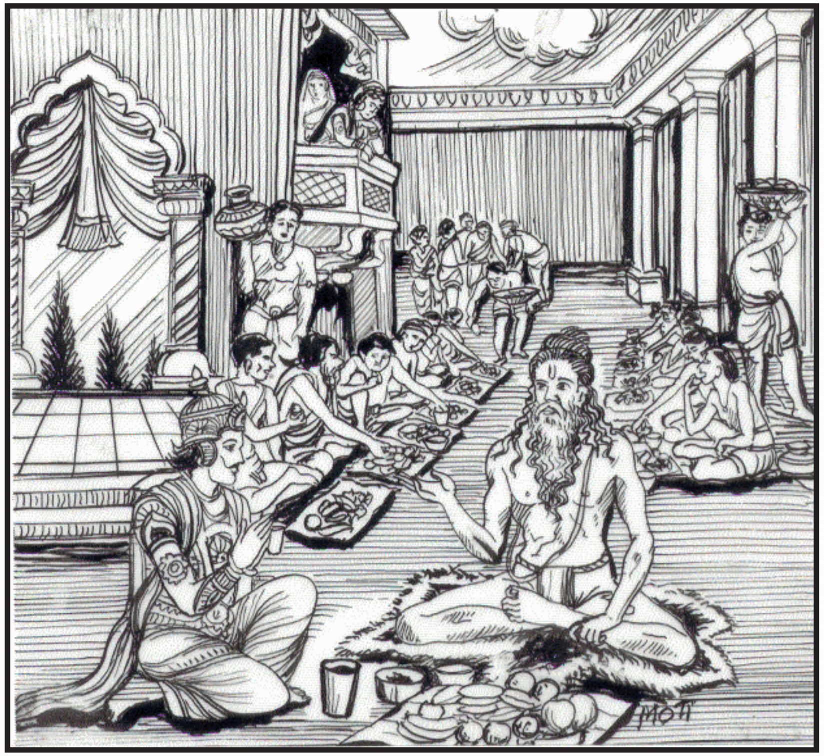
डोम की सुमरनी छुऊँ कैसे? अगर मैं इनकी बात नहीं सुनता हूँ तो मेरी भी बात ये नहीं सुनेंगे। ऐसा सोचकर उन्होंने सुमरनी में एक अंगुली लगाई, सुमरनी टस-से-मस नहीं हुई। दूसरी अंगुली लगाई, फिर भी टस-से-मस नहीं हुई। तीसरी अंगुली लगाई, तीनों अंगुलियों से जोर लगाया, लेकिन सुमरनी जस-की-तस। वहाँ से टस-मस नहीं हुई। चार अंगुलियाँ लगा दी, पाँचों अंगुलियाँ लगाकर खींचना चाहा। सुमरनी जैसी-की-तैसी रही। भीम के मन में जो दस हजार हाथियों के बल का घमण्ड था, वह वहीं गल गया।

श्वपच भगतजी अपने से सुमरनी उतार लेते हैं और पूजा करने के पश्चात् पूछते हैं– 'कहो भीम! क्या बात है?' भीम ने कहा– 'चलिए, युधिष्ठिर महाराज ने आपको निमंत्रण दिया है भोजन करने के लिए।' उन्होंने कहा– 'राजा के यहाँ दूषित अन्न आता है। दूषित अन्न का मैं भोजन नहीं करता।' भीम क्रोध से भीतर-ही-भीतर जल गया कि जाति का है डोम और कहता है कि राजा के यहाँ के अन्न का भोजन नहीं करता हूँ। भीम लौट गए। युधिष्ठिर महाराज के पूछने पर भीम ने कहा– 'आप डोम-चमार के यहाँ मुझको भेज देते हैं, वह नहीं आया।

भगवान् कृष्ण ने कहा– 'युधिष्ठिर! आपके जितने भाई हैं, सब राजमद में माते हुए हैं। आप स्वयं जाकर उन्हें सादर ले आइए। युधिष्ठिरजी स्वयं उनको लाने के लिए गए और उनसे अपने यहाँ चलने के लिए अनुनय-विनय किया। श्वपच भगत ने कहा– 'मैं तो राजा का अन्न नहीं खाता। राजा का अन्न दूषित होता है।' युधिष्ठिर महाराज ने प्रार्थना की और कहा– 'महाराज! राजा के यहाँ का अन्न तो अवश्य ही दूषित होता है। अगर आप

भोजन नहीं करेंगे तो वह पवित्र कैसे होगा? इसलिए आप पधारने की कृपा करें।' युधिष्ठिर की प्रार्थना से प्रसन्न होकर श्वपच भगतजी उनके साथ राजभवन आ गए।

द्रोपदी के मन में हो रहा था कि लाखों लोग भोजन करके चले गए, लेकिन घंटा नहीं बजा और एक ऐसे सन्त हमारे यहाँ आ रहे हैं, जिनके भोजन करने से घंटा बजेगा। इसलिए उन्होंने उनके लिए बहुत-सी चीजें बनाईं और बनवाईं। श्वपच भगतजी भोजन करने के लिए बैठे तो उनके सामने सोने की थाली और कटोरियों में भोजन की सारी चीजें परोस दी गईं। द्रोपदी के मन में हुआ कि एक-एक चीज उठाकर खाएँगे, सबका स्वाद लेंगे और प्रशंसा करेंगे। लेकिन जितनी चीजें थीं उन्होंने सबको एक



जगह मिलाकर एक कौर मुँह में लिया।

जैसे ही एक कौर लिया वैसे ही एक बार घण्टा बज गया। सबके मन में उल्लास छा गया। द्रोपदी के मन में हुआ कि मैंने इतनी मेहनत करके इतनी चीजें बनाई थीं कि ये भोजन का स्वाद लेंगे। आखिर जाति के डोम ही तो ठहरे। सब मिला-जुलाकर एक कर दिया। क्या स्वाद जाने डोम जाति के लोग! जैसे ही द्रोपदी के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि श्वपच भगतजी का हाथ रुक जाता है। युधिष्ठिर महाराज कहते हैं– 'महाराज! भोजन कीजिए।' श्वपचजी महाराज कहते हैं– 'जो संत का भोजन था वह तो हो गया। अब जो भोजन होगा, वह डोम का भोजन होगा।'

युधिष्ठिरजी ने कहा– 'महाराज! आप ऐसा क्यों कहते हैं? आप तो महान् संत हैं। बहुत श्रेष्ठ हैं, पूज्य हैं।' श्वपच भगतजी ने कहा– 'पूछो द्रोपदी से।' अब तो द्रोपदी बेचारी लाज के मारे गल गई। हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी कि मुझसे भूल हो गई। अपराध हो गया, क्षमा कीजिए। भोजन कीजिए। युधिष्ठिरजी के पुनः विनय करने पर श्वपचजी भोजन करते हैं और कहते हैं– 'भोजन तो मैं कर लेता हूँ, लेकिन अब घंटा नहीं बजेगा।'

कबीर साहब ने कहा है–

मोहे भावेला भगती भिलिनियाँ के।

देश देश के मुनिगण आये, घंटा बजाये डोमनियाँ के।।

भगवान् श्रीराम कहते हैं– 'हमारे यहाँ जाति-पाँति की कोई बात नहीं है। जो भक्ति करते हैं, वे ही विशेष हैं।

र (शान्ति-सन्देश, अप्रैल 1996 ई0)

57. असत्य भी दुःख देता है

जिस तरह सूर्योदय होने पर रात का अन्त हो जाता है। अंधकार का नाश और प्रकाश का विकास हो जाता है, उसी तरह जब अज्ञानता रूपी रात्रि का नाश हो जाएगा, माया समाप्त हो जाएगी, तब हम ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाएँगे। हम अपने को जान लेंगे और प्रभु का भी प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेंगे। जबतक हम अपने को नहीं जानेंगे, प्रभु को नहीं जान सकेंगे। गो0 तुलसीदासजी कहते हैं– 'यद्यपि माया असत्य है, लेकिन दुःख देती है।' एक बहुत अच्छा दृष्टान्त है–

एक लड़के ने विवाह किया। वह अपनी पत्नी के साथ घर लौट रहा था, देहात जाना था। ट्रेन पहुँचते-पहुँचते रात हो गई थी। उसी शहर की एक धर्मशाला में पत्नी के सहित वह टिक गया। दोनों प्रेम से खाए-पीए और सोने का समय होने पर कमरे में गए। धर्मशाला में और भी बहुत से यात्री थे, वे लोग भी अपने-अपने कमरे में सोने के लिए चले गए। दोनों पति-पत्नी ने आपस में बातचीत आरम्भ की। बातचीत के क्रम में पति ने अपनी पत्नी से पूछा– 'अच्छा बताओ, हमलोगों को जब लड़का होगा, तब तुम उसको क्या पढ़ाओगी?' पत्नी ने उत्तर दिया– 'मैं उसको डॉक्टर बनाऊँगी।' पति ने कहा– 'डॉक्टर बनाना ठीक नहीं, वकील बनाना ठीक होगा।' पत्नी कहती है– 'वकील को बहुत झूठ-साँच करना पड़ता है। वे अपने तो झूठ बोलते ही हैं, दूसरों से भी झूठ बोलवाते हैं। अतः वकील बनाना ठीक नहीं। मेरे विचार में डाक्टर बनाना ही उपयुक्त है। मान लिया अगर प्रैक्टिस कम चलेगी तो क्या हानि है, कम-से-कम जनसेवा तो करेगा।' इस तरह पति-पत्नी में धीरे-धीरे बात बढ़ती चली गई।

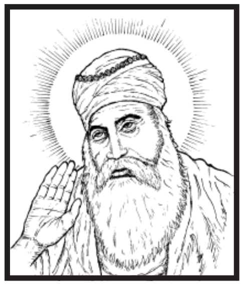
दोनों में से कोई एक दूसरे के विचार से सहमत नहीं हो रहे थे। पति को गुस्सा आ गया। वह आक्रोश में कहता है– 'बेहुदी, मैं बार-बार कहता हूँ कि लड़के को वकील बनाना है, डॉक्टर नहीं, तो मेरी बात मानती नहीं और डॉक्टर-डॉक्टर की रट लगा रक्खी है।' पत्नी कहती है– 'आप कुछ कहिए, मैं लड़के को डॉक्टर ही बनाऊँगी।' इतना सुनते ही पति की क्रोधाग्नि भड़क उठी और उसने जोर से अपनी पत्नी को एक थप्पड़ मारा। वह बेचारी फूट-फूटकर रोने लगी। रोने की आवाज सुनकर आस-पास के लोग वहाँ इकट्ठे हो गए और पूछने लगे– 'भाई क्या बात है? अभी तो आपलोग बड़े प्रेम से बातचीत कर रहे थे,



अब इतनी देर में क्या हो गया, जो रोना-धोना प्रारम्भ हो गया। उक्त नवयुवक की पत्नी कहती है– 'देखिए न बाबू! मैं बार-बार कहती हूँ, लड़के को पढ़ा-लिखाकर डॉक्टर बनाऊँगी, लेकिन ये मानते ही नहीं। कहते हैं लड़के को वकील बनाऊँगा।' उनलोगों में से एक सज्जन ने कहा– 'देखो भाई! आजकल के जमाने में लड़के स्वयं अपनी रुचि के अनुसार अपनी पढ़ाई का चयन करते हैं। अतः लड़के को बुलाकर उससे पूछ लिया जाय कि वह डॉक्टर या वकील; क्या बनना चाहता है। जिसमें उसकी रुचि हो, उसी विषय की शिक्षा उसको दिलवा दी जाय।' तब उस नवविवाहित लड़के ने कहा– 'अभी तो हमलोग शादी करके आ रहे हैं, लड़का है कहाँ?'

लड़का है ही नहीं, लेकिन लड़के के कारण मार तो उसको लग गई। इसीलिए गो० तुलसीदासजी कहते हैं– 'जदपि असत्य देत दुख अहई।' दुख तो हो ही जाता है। उसी तरह यह असत्य संसार सत्य मालूम होता है। दैहिक, दैविक, भौतिक; इन त्रितापों से हम सन्तप्त होते रहते हैं। इसी के लिए भगवद् भजन करना है। प्रथमतः परमात्म-स्वरूप का परोक्ष ज्ञान हो, पश्चात् अपरोक्ष ज्ञान। जबतक परमात्म-स्वरूप को सही रूप में नहीं जान लेंगे, तब तक परम कल्याण नहीं होता।

(शान्ति-सन्देश, दिसम्बर 1996 ई०)



58. मृत्यु में संदेह नहीं

सज्जनों! एक-न-एक दिन सबका शरीर छूटेगा। जन्म लेने का अर्थ ही मृत्यु होता है। जो जन्म लेंगे वे मरेंगे, यह सुनिश्चित है। अन्य किसी बात में सन्देह हो सकता है। जैसे हम व्यापार करेंगे, हमारा व्यापार चलेगा या नहीं, इसमें सन्देह है। हम परीक्षा दे रहे हैं, उत्तीर्ण होकर उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है, लेकिन इस बात में सन्देह नहीं कि हम मरेंगे।

एक कृषक था। उसको एक पुत्र था। दोनों ने मिलकर खेती की। लड़के ने कहा– 'पिताजी! हमलोगों ने बहुत मेहनत से खेती की है, फसल खूब अच्छी होगी।' पिता ने कहा– 'हाँ बेटा! मेहनत करो। मेहनत की गई, तो फसल अच्छी उग आई।' पुत्र ने कहा– 'पिताजी, देखिए! फसल कितनी अच्छी लहलहा रही है!



अनाज होगा हमलोग खूब खाएँगे।' पिता ने कहा– 'बेटा! अभी तो पौधे ही निकले हैं। जब दाने लगेंगे तब न!' जब दाने निकल आए, तो पुत्र ने कहा– 'पिताजी! अब तो खाएँगे न, देखिए दाने निकल आए हैं?' पिता ने कहा– 'बेटा! अभी दाने कच्चे हैं, पकेंगे तब न।' जब फसल पककर तैयार हो गई तब पुत्र ने कहा– 'देखिए पिताजी! अब तो फसल पककर तैयार है, अब तो खाएँगे न?' पिता बोला– 'बेटा! अभी तो खेत में फसल है, दरवाजे पर फसल आएगी तब तो। कबीर साहब ने कहा है–

पाकी खेती देखकर गरबै कहा किसान।
अबहुँ झमेला बहुत है, घर आए पै जान।।'

जब फसल काटकर घर पर ले आया, तो पुत्र ने कहा– 'देखिए पिताजी! अब तो फसल घर पर आ गई, अब तो खाएँगे न?' पिता ने कहा– 'बेटा, अभी देर है। अभी तो फसल तैयार हुई है, आटा कहाँ बना है? गेहूँ पीसा जाएगा, आटा तैयार होगा, रोटी बनेगी तब ना खाएँगे, अभी कैसे खाएँगे?' गेहूँ पीसा गया। रोटी बनी, थाली में आ गई। पुत्र ने कहा– 'पिताजी! अब कहिए, अब तो रोटी बनकर थाली में आ गई, अब क्या सन्देह है?' पिता ने कहा– 'बेटा! अभी क्या? अभी तो थाली में है, मुँह में रोटी जाएगी तब न।' बेटे ने कहा– 'अब क्या सन्देह है?' जब उसके पिता ने रोटी का टुकड़ा मुँह में डाला, तो पुत्र ने कहा– 'पिताजी! अब क्या, अब तो मुँह में गया?' पिता बोला– 'अभी क्या, अभी तो मुँह में ही है, पेट में जाएगा तब तो।' इतना सुनकर पुत्र का मन क्रोध से भर गया। उसने जोर से एक मुक्का पिता की गर्दन पर मारा। मुक्का लगते ही बूढ़े का प्राणान्त हो गया।

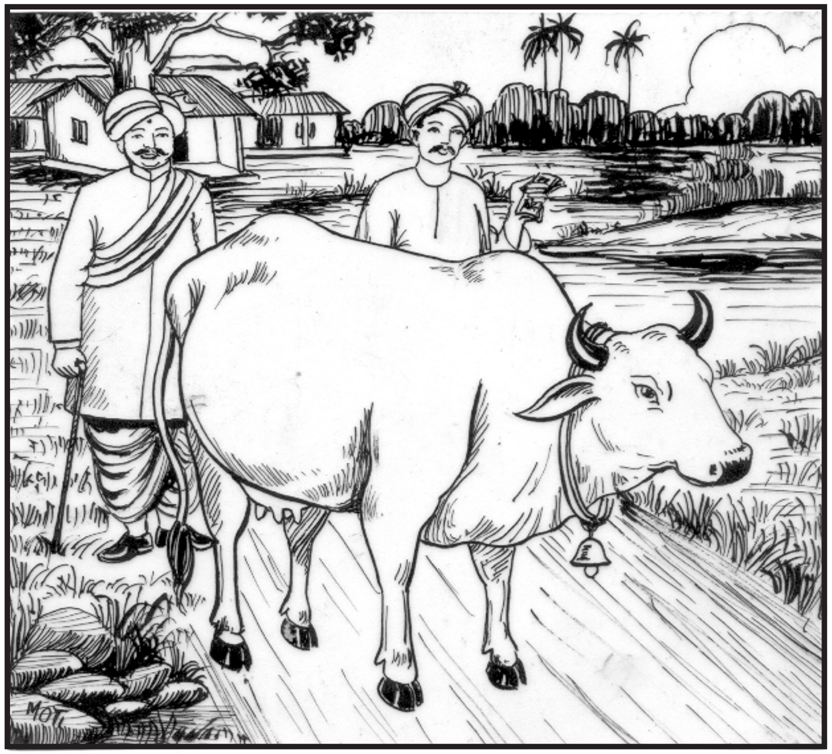
मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य सब कामों के होने में सन्देह हो सकता है। लेकिन किसी के भी मरने में सन्देह नहीं।

र (शान्ति-सन्देश, मई 1997 ई0)

59. मन को घुमा-घुमाकर लाओ

सत्संग के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि विषय में तृप्ति नहीं है, सुख नहीं है, चैन नहीं है, कल्याण नहीं है। फिर भी यह मन विषयों के पीछे ही क्यों दौड़ लगाता है? जिस बात को जानते हैं कि नहीं करना चाहिए, फिर भी करते हैं। ऐसा होता क्यों है?

एक गरीब किसान था। उसके यहाँ एक गाय थी। बेचारा गरीब किसान उस गाय के लिए रुखी-सूखी घास किसी प्रकार जुटाता और उस गाय को खिलाता। रुखी-सूखी घास भी वह गाय भरपेट नहीं पाती थी। किसी प्रकार काम चलता था, दिन व्यतीत होते थे। वह बेचारी गाय करेगी भी तो क्या?

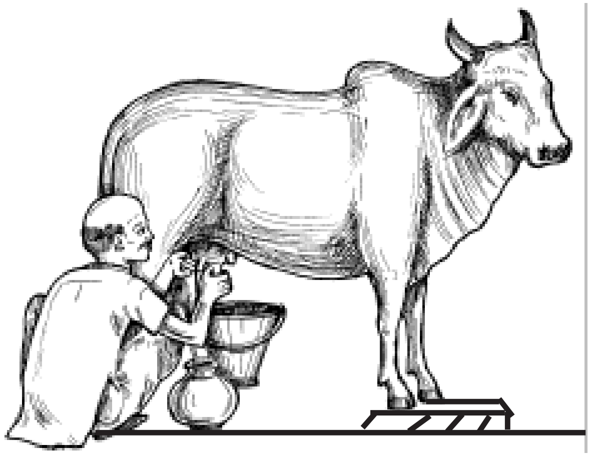


एक दिन एक सेठजी उस किसान के यहाँ आए। देखते हैं कि गाय की नस्ल तो अच्छी है। इस गाय को दूध भी अच्छा देना चाहिए और इससे जो बछड़े पैदा होंगे, वे भी अच्छी जाति के बैल बनेंगे। इसे खाने के लिए ठीक से नहीं मिलता है, इसलिए यह इतनी दुबली-पतली है। सेठजी सोचते हैं कि यदि यह मेरे यहाँ चली जाए, तो इसे खाने के लिए हरी-हरी घास, बढ़िया दाना, खल्ली आदि मिला करेगा और यह सुखपूर्वक रह सकेगी।

सेठजी ने उस किसान से उक्त गाय बेच देने के लिए कहा। आपस में सौदा तय हो गया। गाय को सेठजी अपने यहाँ ले गए। आखिर सेठजी ही ठहरे। गाय को हरी-हरी घास, खल्ली, दाना आदि खाने को देने लगे तथा गाय के रहने के लिए घर भी बनवा दिया। किसान के यहाँ तो उस गाय को रुखी-सूखी घास, रुखा-सूखा भोजन आधा पेट भी नहीं जुट पाता था, किन्तु सेठजी के यहाँ भरपेट घास, खल्ली, दाना, मिलने लगा। संयोग से एक दिन उस गाय की रस्सी खुल गई। फिर क्या था, गाय सीधे अपने पुराने मालिक के घर पर जाकर ठण्डी सांस लेने लगी।

वह गाय उस गरीब किसान के यहाँ रहने में ही सुख मानती थी। गाय यह नहीं सोचती कि मुझे इस किसान के यहाँ भरपेट सूखी घास भी नसीब नहीं होगी और सेठजी के यहाँ तो भरपेट घास, खल्ली, दाना मिलता है। सेठजी फिर उस किसान के यहाँ गए और गाय को पकड़कर अपने यहाँ लाकर मजबूत खूँटे में बांध दिया। वह विवश होकर सेठजी के यहाँ हरी-हरी घास, खल्ली, दाना खाने लगी और वहाँ रहते-रहते अभ्यस्त हो गई। अब उस गाय की रस्सी को यदि जानकर भी खोल दिया

जाता, तो वह गाय वहाँ से हटकर न तो उस किसान के यहाँ ही जाती, न किसी और के यहाँ। वह उस सेठजी के यहाँ ही रहना पसन्द करती।



यही हालत इस मन की है। जन्म-जन्मान्तर की परत इस पर पड़ी है। इस मन को विषय का रस मिल चुका है। ईश्वर-भजन में क्या सुख है, उस सुख का आनन्द जब इस मन को मिलेगा, तब यह मन उस सुख की ओर मुड़ सकेगा। इसलिए साधक रूपी सेठ मन को घुमा-घुमाकर लाता है। लक्ष्य की ओर लगाता है। सुषुम्ना रूपी मजबूत खूँटे से लगाकर सुरत की डोर से उसे बांधता है। अब यह मन भजन करता है। भजन करते-करते जब इस मन को भजन का स्वाद आने लगता है तब फिर यह मन उस भजन के स्वाद को भुलकर अन्यत्र कहीं नहीं जाता है।

(शान्ति-सन्देश, दिसम्बर 1997 ई0)

60. सत्यवादी हरिश्चन्द्र की दुःख गाथा

संसार में हम देखते हैं कि दिन होता है, रात भी होती है। सदा रात ही नहीं रहती दिन भी होता है और सदा दिन ही नहीं रहता, रात भी होती है। जिस तरह यह परिवर्तन होता रहता है, उसी तरह सुख और दुःख में भी परिवर्तन होता रहता है।

राजा हरिश्चन्द्र बहुत बड़े सत्यवादी थे। सत्यवादी होने के कारण आज भी उनका नाम अमर है। एक रात उन्होंने स्वप्न देखा कि मेरे यहाँ विश्वामित्र मुनिजी आए हुए हैं और उनको मैंने अपना राज-पाट, धन-दौलत; सब कुछ दान में दे दिया है। नींद टुटने पर दूसरे दिन उन्होंने श्रीविश्वामित्र मुनि को प्रत्यक्ष अपने दरबार में देखा। विश्वामित्रजी ने कहा– 'तुमने अपना राज-पाट, धन-दौलत; सब कुछ मुझे दान दे दिया है। यह धन-दौलत राज-पाट, सब मेरा है।' राजा हरिश्चन्द्र सत्यवादी थे। उन्होंने मुनिजी की बात सहज स्वीकार करते हुए कहा– 'महाराज! राज-पाट, धन-दौलत स्वीकार कीजिए।' विश्वामित्रजी ने कहा– 'कोई भी दान बिना दक्षिणा के फलीभूत नहीं होता। राज-पाट, धन-दौलत तो तुमने दान में दे दी, किन्तु बिना दक्षिणा के दान किस काम का!' राजा हरिश्चन्द्र ने कहा– 'ठीक है महाराज! आपकी दक्षिणा खजाने से द्रव्य निकालकर चुका देता हूँ।' विश्वामित्र मुनि ने कहा– 'राज-पाट, धन-दौलत सब मेरा हो गया, तो खजाना तुम्हारा कैसे रह गया? सब मेरा है।' हरिश्चन्द्र ने कहा– 'मेरे पास तो अब कुछ भी बाकी नहीं है, जो आपको दक्षिणा के रूप में दे सकूँ।' विश्वामित्र मुनिजी बोले– 'दक्षिणा-विहीन दान मैं स्वीकार नहीं करता। तुम अपनी धन-दौलत, राज-पाट सब रखो, मैं चला।' इतना कहकर वे चलने

लगे। बेचारे हरिश्चन्द्र क्या करते। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा– 'मुनिवर! आप दान स्वीकार करें। मैं अपने शरीर को बेचकर आपकी दक्षिणा चुका दूँगा।' हरिश्चन्द्र स्वयं, उनकी पत्नी शैव्या और उनके पुत्र रोहिताश्व; ये तीनों राज-पाट छोड़कर निकल गए और काशी में जाकर लोगों से कहा– 'कोई हमको मोल ले लो।' लेकिन उनको मोल लेनेवाला वहाँ कोई नहीं। इतने में एक डोम और एक ब्राह्मण वहाँ आए। हरिश्चन्द्र ने ब्राह्मण के हाथ अपनी पत्नी और पुत्र को बेच दिया और स्वयं डोम के हाथ बिककर विश्वामित्र मुनिजी की दक्षिणा चुका दिया।

प्रभु की लीला विचित्र है। हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता की परीक्षा होने लगी कि कहाँ तक ये अपने सत्य धर्म पर दृढ़ रहते



हैं। हरिश्चन्द्र की पत्नी शैव्या को ब्राह्मण ने पूजा के लिए फूल तोड़कर लाने का काम दिया था। शैव्या ने पुत्र रोहिताश्व से कहा– 'बेटा ब्राह्मण पूजा करेंगे, जाओ फुलवारी से कुछ फूल तोड़कर ले आओ।' माता की आज्ञा शिरोधार्य कर रोहिताश्व फूल तोड़ने के लिए फुलवारी गया। वहाँ उसको साँप ने डँस लिया और वह वहीं मर गया। शैव्या रोहिताश्व के आने की प्रतीक्षा करती रही। देर होने पर सोचने लगी कि अभी तक मेरा पुत्र क्यों नहीं आया? बहुत देर हो रही है। उसकी खोज में वह स्वयं फुलवारी गई तो वहाँ देखती है कि उसका पुत्र मृत होकर पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।

विचारणीय विषय है कि जिसका राज-पाट, धन-दौलत सब कुछ चला गया हो, जिसको पति का वियोग हो– पति कहाँ है, पता नहीं और पुत्र की मृत्यु हो गई हो, उस नारी बेचारी की क्या हालत हुई होगी! कहावत है– विपत्ति अकेले नहीं आती, साथ में औरों को भी लाती है। विधि के विधान में व्यवधान कौन डाल सकता है। कैसी विडम्बना है! राज्यहीन, पति-वियोग और पुत्र-शोक। विपत्ति पर विपत्ति आती गई। मानो विपत्ति का पहाड़ ही उसपर टूट पड़ा। बेचारी कर ही क्या सकती थी? अपने हृदय को पत्थर बना, मृत पुत्र को गोद में लेकर उसकी अन्त्येष्टि क्रिया हेतु श्मशान-घाट जाती है। जिस डोम के हाथ राजा हरिश्चन्द्र बिके थे, उसने उनको काम दिया था कि श्मशान-घाट पर जाओ, तुम वहीं रहना। जो मुर्दा जलाने के लिए आवे उससे कर (Tax) लेना। बिना कर लिए लाश जलाने नहीं देना। जब शैव्या अपने मृत पुत्र को लेकर श्मशान-घाट गई, तो देखती है कि उसके पति ही श्मशान घाट की चौकीदारी कर रहे हैं। शैव्या अपने मृत पुत्र की दाह क्रिया वहाँ करना चाहती है। हरिश्चन्द्र

कहते हैं– 'लाश जलाने के लिए कर-रूप में पैसे दो।' शैव्या कहती है– 'आप मुझे पहचानते नहीं, आप मेरे स्वामी हैं, मैं आपकी पत्नी हूँ और आपका यह मृत पुत्र रोहिताश्व है। आपने ही मुझे रोहिताश्व के सहित बेच दिया था। पुत्र सहित मेरी बिक्री करके जो पैसे आपको मिले थे, उन्हें आपने विश्वामित्र मुनि को दक्षिणा के रूप में दिया था। मेरे पास अब है ही क्या? जो कर-रूप में मैं आपको दूँ। कर के पैसे मैं लाऊँ कहाँ से?' शैव्या की बातों पर अनमनस्क हो हरिश्चन्द्र ध्यान नहीं देते हैं और कहते हैं– 'मेरे स्वामी का आदेश है कि बिना कर लिए लाश जलाने नहीं देना। इसलिए जब तक कर के पैसे तुम नहीं दोगी, मैं लाश जलाने नहीं दूंगा। यदि तुम्हारे पास पैसे नहीं हैं, तो कर के रूप में कफन के कपड़े ही दे दो।' शैव्या कहती है– 'मेरे पास कफन का कपड़ा भी नहीं है।' हरिश्चन्द्र कहते हैं– 'तब तुम यहाँ लाश नहीं जला सकती।' बेचारी शैव्या क्या करती, कर चुकाने के लिए अपनी साड़ी का आँचल फाड़ती है। जब साड़ी फाड़कर वह हरिश्चन्द्र को देना चाहती है तो भगवान् प्रकट हो जाते हैं और कहते हैं– 'हरिश्चन्द्र! मैं तुम्हारे सत्य की परीक्षा ले रहा था। तुमने सत्य का पालन करके परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की।' भगवान् आशीर्वाद देकर रोहिताश्व को जीवित कर देते हैं और कहते हैं– 'हरिश्चन्द्र! तुम्हारा राज-पाट, धन-दौलत, खजाना; सब कुछ सुरक्षित है, जाओ राज्य का सुखोपभोग करो। शरीर छुटने के बाद स्वर्ग सुख का उपभोग करना।'

यह घटना बताती है कि इतने प्रतापी और सत्यवादी राजा को भी वह दिन देखना पड़ा, जिसकी कल्पना उन्होंने स्वप्न में भी नहीं की होगी। र (शान्ति-सन्देश, मई 1998 ई0)

61. पातिव्रत्य धार्म की महिमा

शल्व देश के राजा द्युमत्सेन पर दूसरे राजा ने चढ़ाई की। युद्धोपरान्त पराजित राजा वेश बदलकर भाग गया। राजा के साथ में उसकी पत्नी और पुत्र भी था। राजसी वेष में रहने से पकड़े जाने के भय से वह छद्म वेश– गरीबी वेश में जंगल के किनारे रहने लगा। उसका पुत्र जंगल से लकड़ी काटकर बाजार में जाकर बेचता। उसी से उन सबकी जीविका चलती। राज-पाट, धन-दौलत चले जाने के कारण चिन्ता से राजा-रानी दोनों अंधे-अंधी हो गए। लड़के का नाम सत्यवान था। उसका विवाह सावित्री नाम की राजकुमारी से हुआ। सत्यवान चरित्रवान और विचारवान था। सावित्री पतिव्रता थी और ध्यान-साधना भी करती थी, जिससे उसका आत्मबल बढ़ा हुआ था। राज-परिवार में लालित-पालित सावित्री पतिगृह में गरीबी जीवन बिताती, किन्तु सास-ससुर या पति से कभी किसी प्रकार की मांग नहीं करती। सावित्री को उसके विवाह के पूर्व ही नारदजी ने बता दिया था कि तुम्हारा पति अल्पायु है। इतने दिनों के बाद अमुक महीने की अमुक तिथि में उसका शरीर छुट जाएगा। सावित्री मन-ही-मन सोचती– सास-ससुर और पतिदेव का राज-पाट, धन-दौलत सब चले जाने के कारण उन्हें दु:ख-ही-दु:ख है। यदि उन सबको पति के अल्पायु होने की बात कह दी जाय, तो वे लोग और भी अधिक दु:खी हो जाएँगे। ऐसा सोचकर उसने यह जानकारी अपने पति को भी नहीं दी। नारदजी ने उसके पति की मृत्यु का जो समय बतलाया था, उसको याद था। इस कारण समय आने पर उस दिन उसने अपने पति से कहा– 'पतिदेव आज मेरी इच्छा आपके साथ जंगल देखने की है। आपकी क्या आज्ञा है?'

सत्यवान ने उत्तर दिया– 'इस संबंध में मैं क्या कहूँ?' सास सोचती है– बहू जंगल देखने की इच्छा करती है, वह भी अपने पति के साथ। अतएव आज्ञा दे देनी चाहिए। फिर भी शिष्टाचार-निर्वहण हेतु वह अपने पति से पूछकर सावित्री को स्वीकृति प्रदान करती है। सावित्री सत्यवान के साथ जंगल जाती है। सत्यवान वृक्ष के ऊपर चढ़कर लकड़ी काटने लगता है। एकाएक ऊपर से वह कहता है– 'देवि! मेरे सिर में दर्द हो रहा है।' सावित्री समझ गई कि पतिदेव का अन्तिम समय निकट आ गया है। वह कहती है– 'पतिदेव! आप वृक्ष से शीघ्र नीचे चले आइए।' सत्यवान नीचे उतर आता है। कहता है– 'सिर में भयानक दर्द हो रहा है। चैन नहीं मालूम पड़ रहा है।' सावित्री कहती है– 'पतिदेव! आप आराम करें।' सत्यवान सावित्री की जांघ पर सिर रखकर सो जाता है। सोता है, तो ऐसा सोता है कि चिरनिद्रा में चला जाता है। उसकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। नारदजी ने सावित्री को अन्तःसाधना बतलाई थी। वह नियमित रूप से साधना करती थी। इस कारण उसके शरीर से तेज निकलता था। सत्यवान के शरीर से प्राण निकालकर ले जाने के लिए यमदूत आया। पतिव्रता नारी के तेज के कारण यमदूत उसके पास जा नहीं सका। यमराज के पास लौट गया और उनसे कहा– 'पतिव्रता नारी के तेज में प्रवेश करने की क्षमता मुझमें नहीं हैं।' तब यमराज स्वयं वहाँ जाते हैं और सत्यवान के स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर यानि लिंग शरीर को निकालकर चलते हैं। सावित्री उनके साथ-साथ जाती है। यमराज पूछते हैं– 'बेटी! मेरे साथ कहाँ आ रही हो? इनकी आयु पूरी हो गई। इनको लेकर मैं जाता हूँ, तुम वापस जाओ। अगर तुम कुछ माँगना चाहती हो, तो पति को जिलाने के अतिरिक्त अन्य कोई वर मांग लो।' सावित्री

कहती है– 'अगर आप मुझे वर देना चाहते हैं, तो यह वर दीजिए कि मुझे सौ पुत्र हों, जिनको सोने के कटोरे में दूध-भात खाते हुए मेरे सास-ससुर देखें।' यमराज एवमस्तु कहकर आगे बढ़ जाते हैं। फिर भी सावित्री उनका साथ नहीं छोड़ती है, पीछे-पीछे जाने लगती है। यमराज पुनः पूछते हैं– 'बेटी! अब क्यों आ रही हो? अच्छा एक वरदान और मांग लो।' सावित्री कहती है– 'देव! आप दूसरा वरदान यह दीजिए कि आपका वचन सत्य हो।' यमराज कहते हैं– 'मेरा वचन मिथ्या हो, ऐसा हो ही नहीं सकता।' सावित्री कहती है– 'सौ पुत्रों का वरदान आपने दिया है और आप मेरे पतिदेव को लिए जा रहे हैं। आपका वचन सत्य हो, यह कैसे सम्भव है?' यमराज ने कहा– 'बेटी! तुम जीत गई मैं हार गया। तुमने एक ही वरदान में सब कुछ माँग लिया। अच्छा, तुम्हारे पति को मैं जीवित कर देता हूँ।' ऐसा कहकर यमराज ने सत्यवान के स्थूल शरीर में उसके सूक्ष्म शरीर को प्रविष्ट करा दिया। सत्यवान जीवित हो उठा। वह आँखें खोलता है और अपनी पत्नी से कहता है– 'देवि! आज मुझे बड़ी नींद आयी।' सावित्री ने कहा– 'देव! आपकी आज की जैसी नींद आपके दुश्मन को भी नहीं आवे।'

सौ पुत्रों का सोने के कटोरे में दूध-भात खाना– यह एक साधारण लकड़हारे की आय से कब सम्भव था? प्रभु की अनुकम्पा से सत्यवान के कुटुम्ब, इष्ट-मित्र, सुहृदजन आते हैं और उनसे कहते हैं कि हमलोग आपका साथ देते हैं। चलिए, उस राजा के साथ युद्ध करें, जिसने आपका राज्य लिया है। सभी मिलकर उस राजा से युद्ध करते हैं। वह राजा हार जाता है और सत्यवान को राज्य वापस मिल जाता है। उसके सौ पुत्र हो जाते हैं और अंधे माँ-बाप को आँखें मिल जाती हैं।



इस कथा से कतिपय बातों की शिक्षा मिलती है। जो नारी पातिव्रत्य धर्म का पालन करती है और साधन-भजन भी करती है, वह दिव्यशक्ति से सम्पन्न हो जाती है। वह अपने गए राज्य को, वैभव को वापस करा सकती है। सौ पुत्रों की माता बन सकती है और नेत्रहीनों को नेत्र प्रदान करा सकती है। इसलिए प्रत्येक नारी का धर्म है कि वह पातिव्रत्य धर्म का पालन करे और भगवद्‌भजन भी करे। साथ ही नर का भी पुनीत कर्त्तव्य है कि वह एक पत्नीव्रत धर्म धारण करते हुए भगवद्‌भजन करे।

(शान्ति-सन्देश, जून 1998 ई0)

र

62. आदमी की कीमत

वेदान्त शब्द का अर्थ होता है– ज्ञान का अन्त। ज्ञान का अन्त कहाँ होता है? ज्ञानियों ने ज्ञान को चार भागों में विभक्त किया है– श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभव। ज्ञान का आरम्भ श्रवण से होता है और उसकी परिसमाप्ति अनुभव में होती है।

एक राजा के दरबार में कोई कलाकर तीन मूर्तियाँ लेकर आया। राजा ने पूछा– 'तीनों मूर्तियों की क्या-क्या कीमत है।' कलाकार ने उत्तर दिया– 'इस पहली मूर्ति की कीमत कोई दे नहीं सकता, यह अनमोल है। दूसरी मूर्ति की कीमत एक कौड़ी है और तीसरी मूर्ति अमोल है अर्थात् इसकी कुछ भी कीमत नहीं है।' राजा ने मूर्तियों को अच्छी तरह देखा, किन्तु बात उसकी समझ में नहीं आई। राजा ने मंत्री को बुलाकर उन मूर्तियों को दिखलाते हुए पूछा– 'इन तीनों मूर्तियों की कीमत तीन तरह की क्यों है?' मंत्री ने द्रव्य की दृष्टि से देखा, तीनों का द्रव्य एक था। वजन की दृष्टि से देखने पर तीनों के वजन एक से थे। कला की दृष्टि से देखने पर तीनों की कला एक-सी थी। मंत्री भी घबराया। सोचने लगा– तीनों के द्रव्यों में उन्नीस-बीस होता अथवा तीनों के वजन में उन्नीस-बीस होता अथवा बनावट में उन्नीस-बीस होता, तो मूल्य में उन्नीस-बीस हो; किन्तु तीनों मूर्तियाँ सब प्रकार से समान होने पर भी मूल्य में अन्तर क्यों? आखिर मंत्री तो मंत्री ही होते हैं। मंत्री की मंत्रणा से ही राजा राज्य चलाते हैं। मंत्री के मस्तिष्क में एक विचार आया। उसने हाथ में एक सींकी लेकर पहली मूर्ति के एक कान में डाली। वह सींकी मूर्ति के कान से जाकर हृदय तक पहुँच गई। दूसरी मूर्ति के कान में जब सींकी डाली गयी, तो वह सींकी मूर्ति के मुँह से

निकल गई। तीसरी मूर्ति के एक कान में जब सींकी डाली गई तो वह सींकी मूर्ति के दूसरे कान से निकल गई। मंत्री ने कहा– 'राजन्! तीनों मूर्तियों की कीमत सही–सही है। अर्थात् एक आदमी ऐसा होता है कि वह जो कुछ कान से सुनता है, उसको हृदयंगम करता है यानी अपने आचरण में उतारता है, उसकी कीमत कौन दे सकता है? दूसरे प्रकार का आदमी ऐसा होता है कि वह जो कुछ सुनता है, उसको याद रखता है और समय आने पर मुँह से कुछ कहता भी है। उसकी कीमत एक कौड़ी है। लेकिन, जो एक कान से सुनता है और दूसरे कान से निकाल देता है, उसकी क्या कीमत



होगी? अर्थात् कुछ भी नहीं।

वेदान्त ज्ञान बतलाता है कि श्रवण से जो ज्ञान हो उसका मनन करो। श्रवण–मनन से निर्णीत ज्ञान को अपने आचरण में उतारो, अभ्यास में लाओ। अभ्यासी अभ्यास करते–करते शनैः–शनैः उसमें अभ्यस्त होता जाता है और निदिध्यासन के अन्त में अनुभव ज्ञान होता है। र (शान्ति–सन्देश, जुलाई 1998 ई0)

63. सद्गुरु ही यथार्थ ज्ञान देते हैं

श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश ध्यान के लिए है। ध्यान कैसे करना है, इसके लिए वे बतलाते हैं– *समं काय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।*
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं दिशश्चानवलोकयन्।।

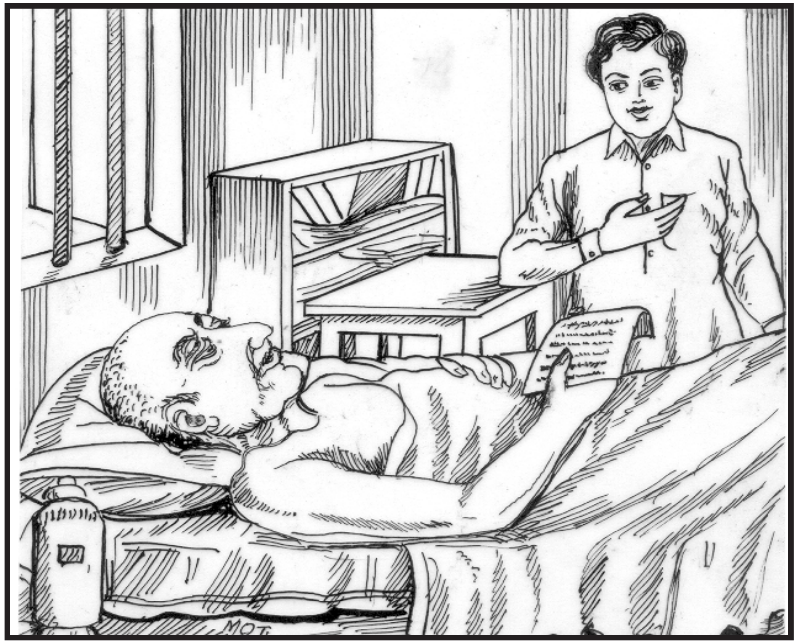
भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को देखने की कला बतलाई। यदि कोई बतानेवाला आचार्य नहीं है और कोई अपने मन से करेंगे अथवा करते हैं, तो उसका परिणाम बुरा भी हो सकता है, लाभ की जगह हानि भी हो सकती है।

एक वृद्ध सेठजी थे। उनके जीवन का अन्तिम समय आ गया था। मुँह की बोली बंद हो गई थी। गला अवरुद्ध हो गया था। अब वे अपने पुत्र को अपने मन की बात कहें तो कैसे! उन्होंने एक कागज पर लिखा– ''बेटा! मेरा अन्तिम समय है। तुमको अन्तिम उपदेश दे रहा हूँ– 'अपने घर से दूकान तक ठंढे–ठंढे जाना और ठंढे–ठंढे आना, स्वादिष्ट भोजन करना और लहना लगाकर तगादा नहीं करना।'' सेठजी का शरीर छूट गया। लड़के ने अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर घर से लेकर दूकान तक, जिसकी चार किलोमीटर की दूरी थी, छत बनवाई; क्योंकि पिताजी की आज्ञानुसार घर से दूकान तक ठंढे–ठंढे जाना और ठंढे–ठंढे आना था। छत बनवाने में ही कई करोड़ रुपए लग गए। स्वादिष्ट भोजन करने के लिए उत्तमोत्तम चीजें बनवाकर, मँगवाकर प्रतिदिन खाने लगा और जो कोई कर्ज माँगने के लिए आया, उसको देता चला गया, किन्तु दी हुई रकम की कर्जदार से कभी फिरौती की माँग नहीं की। क्योंकि लहना लगाकर तगादा नहीं करना था। धीरे–धीरे सेठ–पुत्र की हालत पतली होती गई। यहाँ तक कि खाने–पीने के लिए दाने–दाने का मोहताज हो गया। अब वह करे तो क्या? विवश होकर एक दिन वह पिताजी के समय के मुनीमजी के पास जाता

है और कहता है– 'मुनीमजी! मेरी आर्थिक दशा बड़ी दयनीय हो गई है, आप मुझ पर कृपा करें।' मुनीमजी ने आश्चर्यचकित होकर पूछा– 'अरे! तुम्हारे पिताजी ने तो अतुल सम्पत्ति का अर्जन किया था, फिर तुम्हारी आर्थिक दशा दयनीय क्यों हो गई?' सेठ-पुत्र ने उत्तर दिया– 'क्या बतलाऊँ! पिताजी की जैसी आज्ञा हुई थी, उससे भिन्न मैंने कुछ किया नहीं, फिर भी पता नहीं मेरी यह दीन दशा क्यों हुई। मानस में लिखा है–

गुरु पितु मातु स्वामी सिख पाले। चलइ कुमग पग परइ न खाले।।

अर्थात् गुरु, पिता, माता और स्वामी की आज्ञा में चलने से कभी पैर में छाला नहीं पड़ता अर्थात् किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। उन्हीं पिताश्री की आज्ञा के अनुकूल मैं चला हूँ।' मुनीमजी ने पूछा–'तुम्हारे पिताजी ने क्या आज्ञा दी थी?' सेठ-पुत्र ने उत्तर दिया–'अन्त समय में वे मुँह से कुछ बोल नहीं सके; क्योंकि उनका गला अवरुद्ध हो गया था। उन्होंने कागज पर लिख दिया



था– 'बेटा! अपने घर से दूकान ठंढे-ठंढे जाना और ठंढे-ठंढे आना, स्वादिष्ट भोजन करना और लहना लगाकर तगादा नहीं करना।' मुनीमजी ने पूछा– 'तुमने क्या किया?' सेठ-पुत्र ने उत्तर दिया–'लिखा था– ठंढे-ठंढे जाना और ठंढे-ठंढे आना, तो मैंने घर से लेकर दूकान तक छत बनवा दी। अब ठंढे-ठंढे जाता हूँ और ठंढे-ठंढे आता हूँ। और मुनीमजी! स्वादिष्ट भोजन बनाने में तो खर्च पड़ता ही है, उसमें प्रतिदिन पैसे खर्च होते गए। पिताजी की यह भी आज्ञा थी कि लहना लगाकर तगादा नहीं करना, तो मेरे पास जो कोई कर्ज माँगने के लिए आया, उन सबको मैं देता गया। मैंने पैसे वापस किसी से माँगे नहीं, किसी ने वापस किए नहीं।' मुनीम ने कहा– 'बेटा! तुमने अपने पूज्य पिताजी की बातें समझी नहीं। उनके कहने का अर्थ कुछ और था। सुनो! घर से दूकान तक ठंढे-ठंढे जाना और ठंढे-ठंढे आने का अभिप्राय है कि घर से सबेरे दूकान पर जाना, दिनभर दूकान पर रहना और शाम होने पर घर लौटकर आना। स्वादिष्ट भोजन करने का मतलब है– खूब भूख लगने पर भोजन करना। अगर भूख नहीं है, तो उत्तम-से-उत्तम स्वादिष्ट भोजन में भी स्वाद नहीं लगेगा और भूख लगने पर सत्तू, भुँजा– जो भी खाओगे, मीठा लगेगा। लहना लगाकर तगादा नहीं करने का भाव यह है कि ऐसे आदमी को कर्ज दो, जो बिना तगादा किए वापस कर दे।

इसी तरह संतों-भगवन्तों ने आत्मकल्याण की सारी बातें कह दी हैं, किताबों में सारी बातें लिख दी हैं, लेकिन जबतक हम मुनीम रूपी संत के पास नहीं जाएँगे, तबतक यथार्थ ज्ञान का पता नहीं चलेगा। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं– तत्त्व ज्ञान सीखने के लिए तत्त्वदर्शी के पास जाओ। उनको सादर प्रणाम करो। सेवा करो, तत्पश्चात् जिज्ञासा करो, वे तुम्हारी जिज्ञासा पूर्ण करेंगे। र (शान्ति-सन्देश, सितम्बर 1998 ई0)

64. संतों का आंतरिक ज्ञान

संत कबीर साहब का जमाना था। एक बहुत बड़े पण्डित घूम-घूमकर लोगों से शास्त्रार्थ किया करते थे और शास्त्रार्थ करके लोगों को पराजित करते थे। जितने से उन्होंने शास्त्रार्थ किया सबको पराजित कर अपना नाम सर्वाजित रखा। घर आकर अपनी माताजी से कहा–'माताजी! अब मेरा नाम सर्वाजित है। इसलिए पहलेवाला नाम अब आप नहीं कहिए।' उनकी माताजी की श्रद्धा संत कबीर साहब में थी। उन्होंने कहा–'सबको तो तुमने पराजित किया। जब संत कबीर साहब को तुम पराजित करके आओगे, तब मैं तुम्हें सर्वाजित नाम से पुकारूँगी, वैसे नहीं।' पण्डितजी ने कहा–'माताजी! कबीर तो महामूर्ख है, उसने कभी कुछ पढ़ा नहीं, कभी मदरसा गया नहीं, एक अक्षर का ज्ञान उसको नहीं है, उसके साथ शास्त्रार्थ



क्या करना?' उनकी माताजी ने कहा– 'बेटा! एक बार जाओ और उनसे बातें करो।' उन दिनों लोग बैल पर भी सामान लादते थे। पण्डितजी ने बैल पर बहुत-सी पोथियाँ–वेद, शास्त्र पुराणादि लाद ली और चले कबीर साहब से शास्त्रार्थ करने। कबीर साहब का घर अभी थोड़ी दूर बाकी था। बस्ती के बाहर कुँए पर कुछ माताएँ पानी भर रही थीं। पण्डितजी ने पूछा– 'कबीर का घर कहाँ है, किधर है?' एक पनिहारी उत्तर देती है–

कबीर का घर शिखर पर, जहाँ सिलहिली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, पण्डित लादे बैल।।

पण्डितजी, कबीर का घर तो शिखर पर है, जहाँ चींटी की भी टाँग नहीं जा सकती, आप वहाँ बैल पर पुस्तकें लादकर कैसे पहुँच सकते हैं? पण्डितजी के मन में हुआ कि जहाँ की पनिहारी की भाषा ऐसी है, तो कबीर की भाषा कैसी होगी? फिर भी विद्या के अहं में आगे बढ़े । वहीं पनिहारी से एक लोटा जल लेकर वे कबीर साहब के घर पहुँचे। वहाँ जाकर कबीर साहब के सामने जल भरा हुआ लोटा रख दिया। कबीर साहब के पास गुदड़ी सीने की सूई थी, उसी जल में उन्होंने डाल दी। पण्डितजी का कहना था कि जैसै लोटा जल से लबालब भरा हुआ है, उसी प्रकार मैं ज्ञान से लबालब भरा हुआ हूँ। कबीर साहब ने जल में सूई डालकर उत्तर दिया– 'आपका जितना ज्ञान है, उस ज्ञान को हमारा ज्ञान छेदकर नीचे तक चला जाएगा अर्थात् आपके ज्ञान को भेदनेवाला हमारा ज्ञान है।' पण्डितजी सैन से सैन का समाधान पाकर वैन में बोले– 'मैं आपसे शास्त्रार्थ करने आया हूँ।' कबीर साहब ने उत्तर दिया– 'मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ। आपसे शास्त्रार्थ मैं कैसे करूँ? शास्त्र किसे कहते हैं, हम जानते ही नहीं।' पण्डितजी ने कहा कि आप में शास्त्र-ज्ञान नहीं है, तो एक कागज पर लिख दीजिए कि 'कबीर हारा, सर्वाजित जीता।' कबीर साहब ने कहा– 'मैं एक

अक्षर भी लिखना जानता नहीं; लिखूँगा क्या? आप स्वयं लिख लें।' पण्डितजी ने लिख लिया–'कबीर हारा, सर्वाजित जीता' और कहा–'आप इस पर हस्ताक्षर कर दीजिए।' कबीर साहब ने कहा–'मैं एक अक्षर लिखना जानता नहीं तो हस्ताक्षर कैसे करूँगा?' पण्डितजी ने कहा– 'हस्ताक्षर करना नहीं जानते हैं तो अँगूठा का निशान कर दीजिए।' कबीर साहब ने कहा– 'हाँ, अँगूठा का निशान कर दूँगा।' ऐसा कहकर कबीर साहब ने अँगूठा का निशान कर दिया। बड़ी खुशी के साथ पण्डितजी अपनी माँ के पास आए और कागज दिखलाते हुए कहा–''यह देखो, 'कबीर हारा, सर्वाजित जीता' कागज पर लिखा हुआ है।'' पण्डितजी की माताजी उस कागज को देखती है, तो उस पर 'कबीर जीता, सर्वाजित हारा।' पण्डितजी की माताजी ने कहा– 'पुत्र! पढ़ो, कागज पर लिखा हुआ है– 'कबीर जीता, सर्वाजित हारा।' उस कागज को देखकर पण्डितजी चकित हो गए। सोचने लगे यह क्या हुआ? पुनः बोले– 'माताजी! लिखा हुआ तो मेरा ही है, लिखने में गलती हो गई।' फिर दूसरी बार कबीर साहब के पास जाते हैं और कहते हैं– 'देखिए कबीर साहब! उस बार तो लिखने में गलती हो गई। अब इस बार मैं ठीक से लिखता हूँ, आप अँगूठा का निशान कर दीजिए।' फिर उन्होंने लिखा– 'कबीर हारा, सर्वाजित जीता।' कबीर साहब ने उस पर अंगूठा का निशान कर दिया। पण्डितजी जब माँ के पास कागज लेकर आते हैं तो वहाँ हो जाता है– 'कबीर जीता, सर्वाजित हारा।' माताजी कहती है– 'देखो तुम बार-बार हारते हो और अपनी जीत बताते हो।' इस प्रकार पण्डितजी तीन बार कबीर साहब के पास गए, तीनों बार ऐसे ही हुआ। अन्त में वे संत कबीर साहब के प्रथम शिष्य बने। संतों का ज्ञान सीना है, सफीना नहीं। यह अक्षरों में लिखनेवाला ज्ञान नहीं है, आन्तरिक रहस्य का ज्ञान है। ‌र (शान्ति-सन्देश, नवम्बर 1998 ई0)

65. संत गंगा को भी पवित्र करते हैं

भागवत् में कथा आई है कि सुरसरि को भूतल पर लाने के लिए अंशुमान ने बड़ी कठोर तपस्या की, किन्तु वे असफल रहे। उनके पुत्र दिलीप ने बहुत वर्षों तक उसी तरह कठोर तपस्या की, लेकिन उन्हें भी सफलता नहीं मिली।

दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए। उन्होंने बड़ी कठोर साधना की, बड़ी कड़ी तपस्या की। माँ भगवती गंगा प्रसन्न होकर प्रकट हो गईं। वे कहती हैं– 'भगीरथ! माँगो, क्या वर माँगते हो? मैं तुमसे प्रसन्न हूँ।' भगीरथ ने कहा– 'माँ! आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मर्त्यलोक चलिए। गंगाजी ने कहा– 'भगीरथ! पृथ्वी तल पर मैं



कैसे जाऊँगी? वहाँ अगर मैं जाती हूँ, तो वहाँ लोग आएँगे और अपने-अपने पापों को मुझमें धोएँगे, तो मैं पापिनी बन जाऊँगी। फिर मैं अपने पापों को कहाँ धोऊँगी?'

भगीरथ ने कहा– 'माँ! जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति, पुत्र-पत्नी, परिवार का परित्याग कर दिया है। जो संसार के लोगों के उपकार के लिए ही जीवन धारण करते हैं। जो सदाचार का पालन करते हैं, जो भगवद्भजन करते हैं, जो जगत से विरागी हैं, प्रभु पद के अनुरागी हैं, ऐसे संत, सज्जन, महात्मा, साधु जब तुमको अपने अंग का स्पर्श कर देंगे, तो तुम पवित्र हो जाओगी।' भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर गंगाजी स्वर्ग से इस पृथ्वी तल पर आती है।

संत-महात्मा लोग कैसे होते हैं, यह समझिए। जो सुरसरि दूसरे को पवित्र करती है, उस सुरसरि को भी पवित्र करनेवाले संत-महात्मा होते हैं। उन महात्माओं का यदि सत्संग करें, ध्यान करें तो हम भी पवित्र हो जाएँगे।

(शान्ति-सन्देश, मई 1999 ई0)



66. आत्मानंद का अंत नहीं होता

जबतक हम नौ द्वारों में रहेंगे, तबतक अंधकार में रहेंगे। जबतक अंधकार में रहेंगे, तबतक हमसे कितनी बार भूलें होंगी, ठिकाना नहीं। इसलिए दशवें द्वार की खोज करो।

एक साधु बाबा जंगल में एक झोपड़ी में रहते थे। उस देश का राजा जंगल में शिकार खेलने गया। वह घूमते हुए साधु की कुटिया के पास पहुँचा। उसने देखा, साधु बाबा के पास एक झोपड़ी के सिवा कुछ भी नहीं है। सोचने लगा– बाबा क्या खाते होंगे, कैसे रहते होंगे आदि। लौटकर वह राजमहल आया और अपने सिपाही को कुछ पैसे देकर साधु बाबा के पास भेज दिया और कहा कि बाबा से कह देना कि राजा ने ये पैसे दिए हैं। इनसे आप अपने लिए व्यवस्था कर लें। सिपाही साधु बाबा के पास जाकर राजा का मन्तव्य बताया। साधु बाबा ने सिपाही से कहा– 'राजा को पैसे वापस कर देना और कह देना कि ये पैसे किसी गरीब को दे दें।' सिपाही ने जाकर राजा से सारी बात कही। राजा के मन में हुआ कि पैसे कुछ कम थे, इसलिए बाबा ने स्वीकार नहीं किया। राजा ने अपने मंत्री को उससे अधिक पैसे देकर साधु बाबा के पास भेजा। बाबा ने मंत्री को भी वही बात कही कि मुझे पैसे की आवश्यकता नहीं है, किसी गरीब को दे देना। मंत्री भी जब पैसे लौटाकर लेता आया, तो राजा के मन में हुआ कि इतने कम पैसे से क्या होगा, अधिक पैसे लेकर मैं स्वयं जाऊँगा। राजा अपने साथ काफी पैसे लेकर साधु बाबा के पास गया और उनसे कहा– 'मैं इस देश का राजा हूँ। आप साधु हैं, वैरागी हैं और मेरे राज्य में रहते हैं। आपको जाड़ा, गर्मी और बरसात में कष्ट होता होगा। ये पैसे आप रख लीजिए और इनसे

अपने लिए उत्तम व्यवस्था कर आराम से रहिए।' साधु बाबा ने कहा– 'राजन्! ये पैसे किसी गरीब को दे देना।' राजा से नहीं रहा गया, उसने उनसे कहा– 'बाबा आप कहते हैं, किसी गरीब को दे देना; आपसे अधिक गरीब भी कोई हो सकता है क्या? आपको रहने के लिए घर नहीं, तन पर वस्त्र नहीं, खाने की कोई व्यवस्था नहीं, जंगल में फल-फूल मिलता है तो खाते हैं, नहीं तो भूखे रहते हैं। आपसे गरीब कौन होगा?' साधु बाबा ने उत्तर दिया– 'राजन्! तुम मुझको नहीं समझ पाए। मैं राजाओं का भी राजा और बादशाहों का भी बादशाह हूँ। तुम क्या चाहते हो बोलो?' राजा ने कहा– 'बाबा! मैं क्या चाहूँगा, मैं तो आपके दुःख से दुःखी हूँ कि आपको रहने, खाने-पीने आदि किसी



प्रकार की व्यवस्था नहीं है।' साधु बाबा ने कहा– 'उधर देखो।' राजा देखता है कि दरिया बह रही है, उसमें पानी-ही-पानी है। साधु बाबा ने पूछा– 'और देखोगे? देखो उस तरफ।' राजा उस तरफ देखता है, तो चाँदी का पहाड़ था। साधु बाबा ने कहा– 'अब उस तरफ देखो।' राजा उस तरफ देखता है, तो सोने का पहाड़ था। साधु बाबा ने कहा– 'अब उस तरफ देखो।' राजा देखता है कि उस तरफ हीरा, लाल जवाहिरात आदि के पहाड़ हैं। पुनः साधु बाबा ने कहा– 'मेरे पास क्या नहीं है, मेरे पास ऐसी जड़ी है कि जितने लोहे में सटा दूँ, वे सब लोहे सोना हो जाएँगे। तुम अपने पैसे लेकर जाओ, मुझे इसकी जरुरत नहीं है।' राजा घर तो चला आया, पर उसे नींद नहीं आ रही थी। वह सोचने लगा कि बाबा के पास लोहे को सोना बनाने की जड़ी है। कुछ लोहा ले जाते हैं और सोना बनवाकर ले आते। ऐसा विचार कर रात में जब सब लोग सो गए, तो कुछ गदहों और खच्चरों पर लोहों को लादकर वह राजा चला जंगल की ओर। साधु बाबा को कुटिया के बाहर कुछ आवाज मालूम पड़ी तो उन्होंने पूछा– 'कौन है?' राजा ने हाथ जोड़कर कहा– 'बाबा! मैं वही राजा हूँ जो दिन में आपके पास आया था।' साधु बाबा ने पूछा– 'दिन में आए तो ठीक है, पर अभी इतनी रात में क्यों आए?' राजा ने कहा– 'बाबा! आपने कहा था कि आपके पास सोना बनानेवाली जड़ी है, आप तो साधु-फकीर हैं, आपको सोना की क्या जरुरत; पर मैं तो राजा हूँ, मुझे सोने की बहुत जरुरत होती है। इसीलिए गदहों और खच्चरों पर लादकर कुछ लोहा लाया हूँ। जरा इसे सोना बना दीजिए।' साधु बाबा ने कहा– 'अरे! तुम तो मेरे लिए कहते थे कि मुझ-सा गरीब कौन होगा? जरा सोचो, अभी रात

का समय है, दुनिया सो रही है, और तुम जगकर गदहे और खच्चरों पर लोहों को लादकर जंगल में मेरे पास आए हो। तुम ही बोलो, मैं गरीब हूँ या तुम?' राजा बोला– 'बाबा! मैं ही गरीब हूँ।'

साधु बाबा ने कहा– 'अभी सोना नहीं बनाऊँगा, तुम अपने घर जाओ। कुछ दिन तक मेरी खिदमत करो। तेरी सेवा से जब मैं प्रसन्न होऊँगा, तब सोना बना दूँगा।' राजा ने सोचा– बाबा की थोड़ी सेवा करने से यदि इतनी बड़ी दौलत हाथ लग जाय, तो बुरा क्या है! यह सोचकर वह सेवा में रह गया। जब कुछ दिनों तक सेवा में रहा, तो साधु बाबा ने उसे योग की कुछ क्रिया बतला दी। राजा मनोयोग-पूर्वक क्रिया करने लग गया। उसकी साधना में कुछ उन्नति हो गई। साधु बाबा ने जब देखा कि राजा अब स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश कर गया है, तो उसको बुलाया और कहा मैंने तुमसे कहा था कि जब तुम्हारी सेवा से मैं प्रसन्न हो जाऊँगा तो तुम्हारे लोहे को सोना बना दूँगा। तुमने मेरी सेवा के साथ-साथ साधना भी की है। अब जितना लोहा लाना है ले आओ, मैं सोना बना दूँगा। राजा ने कहा– 'गुरुदेव! आपकी कृपा से, अब मैं खुद ही जान गया हूँ कि सोना कैसे बनाया जाता है। अतएव आपसे सोना बनवाने की आवश्यकता नहीं रही।

वह कौन-सी विद्या है कि राजा भी एक फकीर की खिदमत करता है? वह नौ द्वार की विद्या नहीं है दसम द्वार की है। जो दसम द्वार में प्रवेश करता है, वह इन्द्रियजयी हो जाता है। इन्द्रियों के बहाव में नहीं बहता है। विषयानंद को छोड़कर आत्मानन्द की ओर बढ़ता है। वह आनन्द ऐसा है कि कभी अन्त होता नहीं है। (शान्ति-सन्देश, नवम्बर 1999 ई0)

र

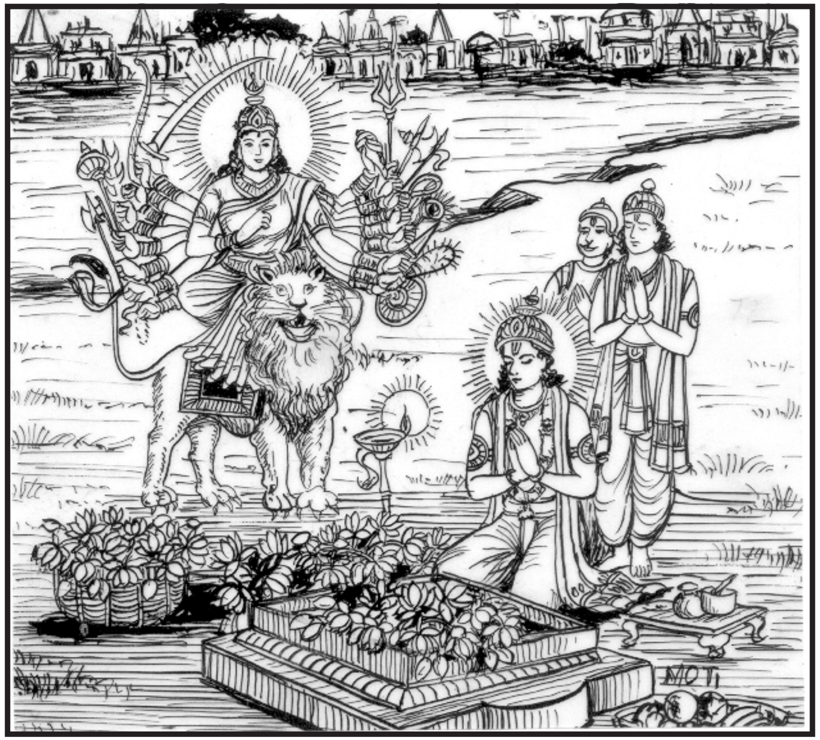
67. श्रीराम द्वारा भगवती-पूजन

नारी बहुत भक्ति-सम्पन्न होती है। स्वयं भगवान् उसका सम्मान करते हैं और आदरपूर्वक आवाहन कर पूजन करते हैं। ज्ञातव्य हो कि दुर्गा-दशहरा पर्व उसी उपलक्ष्य में मनाया जाता है। भगवान् श्रीराम ने आश्विन शुक्ला दशमी तिथि के दिन जगज्जननी भगवतीजी का पूजन कर उनसे वरदान पाकर दुर्दान्त राक्षस रावण पर विजय पाई थी। कथा इस प्रकार है–

भगवान् श्रीराम रावण के दश शीश और भुजा बीस को काटकर धराशाई कर देते थे। अविलम्ब ही दसों शीश और बीसों भुजाएँ पूर्ववत् बन जाती थीं। इसी प्रकार कितनी ही बार ऐसा होता रहा। भगवान् निराश और उदास होकर बैठ गए। सोचने लगे कि जिसकी भुजाएँ और शीश कट जाने पर भी जुट जाय, वह अमर है; उसको कौन मार सकता है? मेरा सारा श्रम निष्फल गया। अब सीता का उद्धार नहीं होगा।

भगवान् को चिन्तित देखकर विभीषण ने कहा– 'प्रभो! भगवती ने रावण को अपनी गोद में बिठा रखा है। जबतक उनकी गोद से रावण नीचे नहीं हो जाता, तबतक उसको कोई मार नहीं सकता। अतएव आप भगवतीजी का पूजन कर उनसे वरदान प्राप्त करें। एक सहस्र कमल पुष्प से पूजा करने पर वे शीघ्र प्रसन्न हो जाती है। जब वे प्रसन्न होकर प्रकट हो जाएँ, तब आप उनसे रावण को अपनी गोद से उतारने के लिए प्रार्थना करें।' भगवान् ने पूछा– 'वे फूल कहाँ मिलते हैं?' विभीषण ने उत्तर दिया– 'मानसरोवर में।' हनुमानजी को भेजकर एक सहस्र सुमन मँगवाए गए। भगवान् श्रीराम ने बड़े प्रेम से श्रद्धा-भक्ति संयुक्त होकर भगवती माता की पूजा की, किन्तु देवीजी प्रकट नहीं हुई। अब तो भगवान् अत्यन्त दुःखी और अधीर हो गए। भगवतीजी के प्रकट नहीं होने का कारण ढूँढा जाने लगा। विचार में आया कि

पूजा में किसी प्रकार की त्रुटि रही होगी। फूलों की गिनती करने पर नौ सौ निन्यानबे हुए, क्योंकि भगवान् की प्रीति-प्रतीति परीक्षण हेतु भगवतीजी ने एक पुष्प को छिपाकर रख लिया था। अब क्या हो? भगवान् ने हनुमानजी को एक पुष्प और ले आने की आज्ञा दी। हनुमानजी ने हाथ जोड़कर कहा– 'प्रभु! अब वहाँ पुष्प नहीं है।' गम्भीर चिन्तन के पश्चात् भगवान् ने कहा– 'अच्छा, लोग मुझे कमलनयन कहते हैं। अतएव कमल की जगह अपनी एक आँख ही भगवती को चढ़ा देता हूँ।' ऐसा कहकर जैसे ही वे अपनी आँख निकालना चाहते थे; भगवती ने प्रकट



होकर भगवान् का हाथ पकड़ लिया और इच्छित वरदान देते हुए बोली– 'रावण को मैंने गोद से उतार दिया।' तब भगवान् श्रीराम ने उसका संहार किया। र (शान्ति-सन्देश, मार्च 2000 ई0)

68. जैसा अन्न वैसा मन

महाभारत का युद्ध चल रहा था। भीष्म पितामह की छाती में अर्जुन ने इतने वाण मारे कि वे गिर गए और वाण की शय्या पर पड़े हुए थे। कौरव और पाण्डव दल के लोग प्रतिदिन उनके दर्शन के लिए, उनसे बातचीत करने जाते थे। एक दिन का प्रसंग है कि पाँचो भाई पाण्डव द्रोपदी के साथ उनके दर्शनार्थ गए। भीष्म पितामह ने उनलोगों को बहुत अच्छी-अच्छी बातें सुनाईं। ज्ञान की, योग की, जप की, तप की, लोक-व्यवहार आदि विविध तरह की बातें बताईं। वे बोल ही रहे थे कि बीच में द्रौपदी ने मुस्कुरा दिया। भीष्म की नजर उसपर पड़ी और वे चुप हो गए। युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर कहा– 'पितामह! आप बहुत अच्छी-अच्छी बातें हमें सुना रहे थे। हमलोगों का मन आह्लादित हो रहा था। आप बीच में ही क्यों रुक गए?' भीष्म पितामह ने उत्तर दिया– 'मैं तो कह ही रहा था, लेकिन बीच में ही द्रौपदी ने मुस्कुरा दिया। उसकी मुस्कुराहट देखकर ही मुझे रुक जाना पड़ा।' द्रौपदी ने हाथ जोड़कर कहा– 'पितामह! क्षमा कीजिए, मुझसे गलती हो गई। मुझे नहीं हँसना चाहिए था।' भीष्म पितामह ने कहा– 'बेटी! जो संभ्रान्त परिवार की महिला होती है, वह अनावश्यक हँसती नहीं है। उसके हँसने में कोई राज होता है। तुम प्रतिष्ठित परिवार की बेटी और बहू हो। तुम विदुषी हो। देव-गन्धर्व के समान तुम्हारे पाँचो पति हैं और तुम पतिव्रता नारी हो। तुम्हारे हँसने में कुछ कारण अवश्य है, उस कारण को बतलाओ।' द्रौपदी ने हाथ जोड़कर क्षमा याचना करती हुई बोली– 'आप जो इतनी ऊँची-ऊँची बातें हमलोगों को सुना रहे थे, मेरे मन में हुआ कि यह ज्ञान आपको पहले नहीं था। वह ज्ञान आपको आज हुआ है।' भीष्म पितामह ने कहा– 'बेटी ऐसी बात नहीं है। यह ज्ञान मुझे पहले भी था।' द्रौपदी ने कहा– 'जिस समय कौरवों की

सभा में मेरी साड़ी खींची जा रही थी, आपके मुँह से चूँ शब्द नहीं निकला। फिर मैं कैसे मान लूँ कि यह ज्ञान आपको पहले भी था?' पितामह ने उत्तर दिया– 'बेटी! मैंने कौरवों का कुअन्न खाया था, उसी कुअन्न के दुष्प्रभाव से मेरा मन दूषित हो गया था, इसलिए उचित बात बोल नहीं सका।'

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि भोजन का प्रभाव कैसा होता है, इस पर विचार कीजिए। भीष्म पितामह बाल ब्रह्मचारी थे, अष्टवसुओं में एक थे। उनपर भी अन्न का प्रभाव पड़ा।



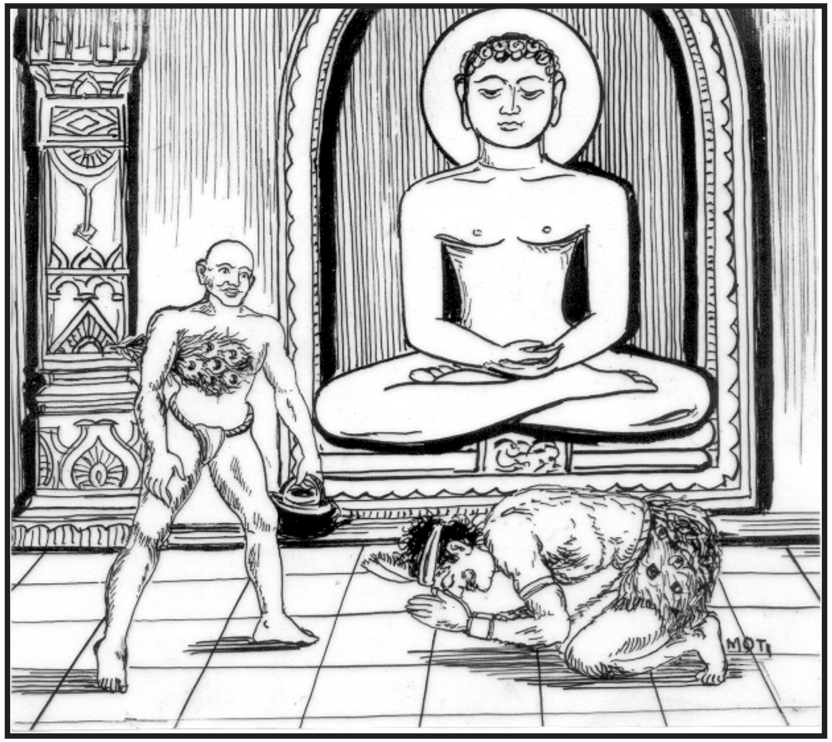
अतएव आवश्यकता है कि हम अपने खान-पान की पहले सम्भाल करें। र (शान्ति-सन्देश, अप्रैल 2000 ई0)

69. अणुव्रत

कोई भी व्यक्ति जब किसी धर्म को स्वीकार कर, आरम्भ करता है, तो तुरत ही वह पूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाता। धीरे-धीरे अभ्यास करते-करते पूर्णता को प्राप्त करता है। इसीलिए उसकी संज्ञा 'अणुव्रत' दी गई है। नित्य नियमित रूप से थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करो। जैसे बूँद-बूँद जल गिरते-गिरते घड़ा भर जाता है, उसी तरह थोड़ा-थोड़ा सद्‌गुण ग्रहण करते-करते व्यक्ति एक दिन गुण-ज्ञान से प्रवीण हो पूर्णता को प्राप्त करता है।

एक बार भगवान् महावीर के पास एक व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करने के लिए आया। वह जाति का बहेलिया था, चिड़ियों को मारकर अपने परिवार का भरण-पोषण करता था। भगवान् महावीर ने कहा– 'तुम तो हिंसा करते हो और हमारा धर्म है अहिंसा का। इसमें तुम कैसे सम्मिलित हो सकते हो? तुम हिंसा करना छोड़ दो।' उनकी बातों को सुनकर बहेलिया निराश होकर लौट रहा था। भगवान् महावीर के एक शिष्य ने देखा कि बहेलिया उदास होकर जा रहा है। उन्होंने बहेलिया से पूछा– 'तुम उदास-से प्रतीत होते हो– क्यों, क्या बात हुई?' बहेलिया ने उत्तर दिया– 'महात्मन्! भगवान् ने कहा कि हमारा अहिंसा का धर्म है और तुम चिड़ियों को मारते हो, हिंसक होकर इस धर्म में कैसे सम्मिलित हो सकते हो? इसलिए मन उदास हो गया।' उक्त मुनि ने कहा– 'इसमें उदास होने की बात नहीं है। तुम जैन धर्म में दीक्षित हो सकते हो। लेकिन मेरी बात सुनो। सभी प्रकार की हिंसा एक ही साथ मत छोड़ो, शनैः-शनैः छोड़ो। तुम एक व्रत ले लो कि आज से तुम अमुक चिड़िया को नहीं मारोगे।' वह सोचने लगा कि चिड़िया मारने से ही मेरी जीविका चलती है, किस चिड़िया को नहीं मारूँ? सोचते-सोचते उसने मन में संकल्प लिया कि आज से कौआ मारना छोड़ दिया। उसने यही व्रत ले लिया। तब से जब भी कौआ सामने

आ जाता, वह उसे नहीं मारता था। कुछ दिनों के बाद वह बहेलिया पुनः महात्माजी के पास गया तो उन्होंने कहा– 'एक और व्रत ले लो।' बहेलिया ने कहा– 'अच्छा आज से चील को नहीं मारूँगा।' उसने चील मारना छोड़ दिया। अगली बार आया तो गिद्ध नहीं मारने का संकल्प लिया। इस प्रकार एक-एक पक्षी को मारना



छोड़ते-छोड़ते वह पूर्ण अहिंसक बन गया और जैन धर्म में एक महान् आचार्य का स्थान प्राप्त कर लिया। यही है आचार्य तुलसी का 'अणुव्रत।' अर्थात् थोड़ा-थोड़ा आरम्भ करो, एक दिन पूर्णता को प्राप्त करोगे। संत कबीर साहब ने कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय।।

र (शान्ति-सन्देश, मई 2000 ई0)

70. 'द' का उपदेश

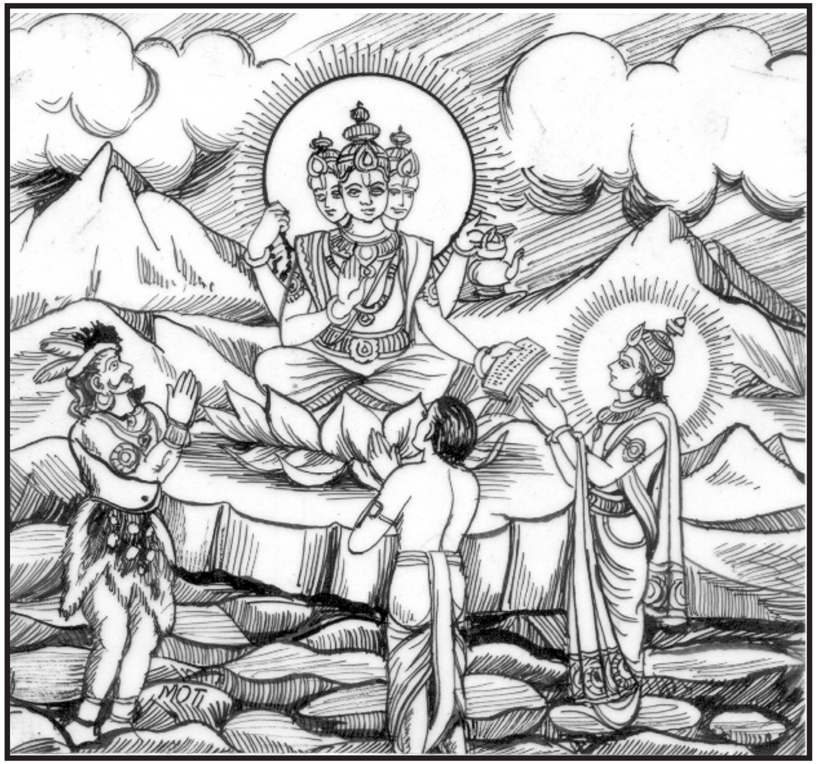
एक बार का प्रसंग है कि देव, दानव और मानव; ये तीनों ब्रह्माजी के पास गए। ब्रह्माजी का अभिवादन कर तीनों ने आसन ग्रहण किया। ब्रह्माजी ने इनके आने का कारण पूछा। तीनों ने एक स्वर से कहा कि हम आपसे कुछ उपदेश ग्रहण करने आए हैं। ब्रह्माजी ने राक्षस को अपने



पास बुलाया और कहा कि मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ– ''एक अक्षर 'द', अब जाओ।'' जब दानव जाने लगा तो उन्होंने पूछा– 'तुमने मेरे उपदेश का क्या अर्थ समझा?' दानव ने कहा– ''हम दानव क्रूरकर्मी हैं, लूट-मार और हिंसावृत्ति में लगे रहते हैं। आपने 'द' अक्षर का उपदेश देकर कहा कि दया करो।'' ब्रह्माजी ने कहा– 'तुमने ठीक समझा, जाओ।'

तब ब्रह्माजी ने देव को बुलाया और उन्हें भी 'द' अक्षर का उपदेश देकर कहा– 'जाओ।' जब वे जाने लगे तो ब्रह्माजी ने पूछा– 'तुमने मेरे उपदेश का क्या अर्थ समझा?' देव ने कहा– 'हम देवगण सदा इन्द्रिय भोगों में आसक्त रहते हैं। आपने हमें दम की साधना अर्थात् इन्द्रियों का दमन करने कहा है।' ब्रह्माजी ने कहा– 'ठीक है जाओ।'

अन्त में मानव को बुलाया गया। उसे भी ब्रह्माजी ने वही 'द' अक्षर का उपदेश दिया और कहा– 'जाओ।' जब वह जाने लगा तो ब्रह्माजी ने कहा– 'मैंने जो उपदेश दिया, तुमने क्या



समझा?' मानव ने कहा– ''भगवन्! हम मानव येन-केन-प्रकारेण धन-संग्रह किया करते हैं। आपने 'द' अक्षर द्वारा दान करने का उपदेश दिया है।''

ब्रह्माजी ने तीनों को एक ही अक्षर 'द' का उपदेश दिया, पर सभी ने अपनी-अपनी भावना के अनुरूप अर्थ लगाया।

(शान्ति-सन्देश, जून 2000 ई0)

र

71. आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व

उपनिषद् में एक कथा आई है कि किसी समय एक ऋषि ने अपने विद्वान पुत्र से ब्रह्म-ज्ञान की कुछ बातें कहीं। यथा–

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।।

(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात् (वह अक्षर ब्रह्म) निश्चय ही दिव्य, अमूर्त्त, पुरुष, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं कार्यवर्ग की अपेक्षा अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है। और बताया कि 'जो वाणी के द्वारा नहीं बतलाया जा सकता, बल्कि जिससे वाणी बोली जाती है, उसको ही तू ब्रह्म जान। वाणी के द्वारा बताने में आनेवाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। जिसको चक्षु के द्वारा नहीं देख सकते, बल्कि जिससे चक्षु देखता है, उसको ही तू ब्रह्म जान। चक्षु के द्वारा देखने में आनेवाले जिस दृश्यवर्ग की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। जिसको मन से नहीं जाना जा सकता, बल्कि जिससे मन जाना जाता है, उसको ही तू ब्रह्म जान। मन और बुद्धि के द्वारा जानने में आनेवाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।' पुत्र ने पूछा– 'पिताजी! जिसको आँख देख नहीं सकती, कान श्रवण नहीं कर सकता और न मन, बुद्ध्यादि इन्द्रियाँ ही ग्रहण कर सकती हैं, उसकी स्थिति कैसे मानी जाय?' पिता ने उत्तर दिया– 'प्रिय वत्स! ऐसी बहुत-सी चीजें हैं, जिनको हम इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते, फिर भी उन सबकी स्थिति है। पंच विषयों में मात्र रूप विषय को हम नेत्र से ग्रहण कर पाते हैं, अन्य चार विषयों को नहीं, तो

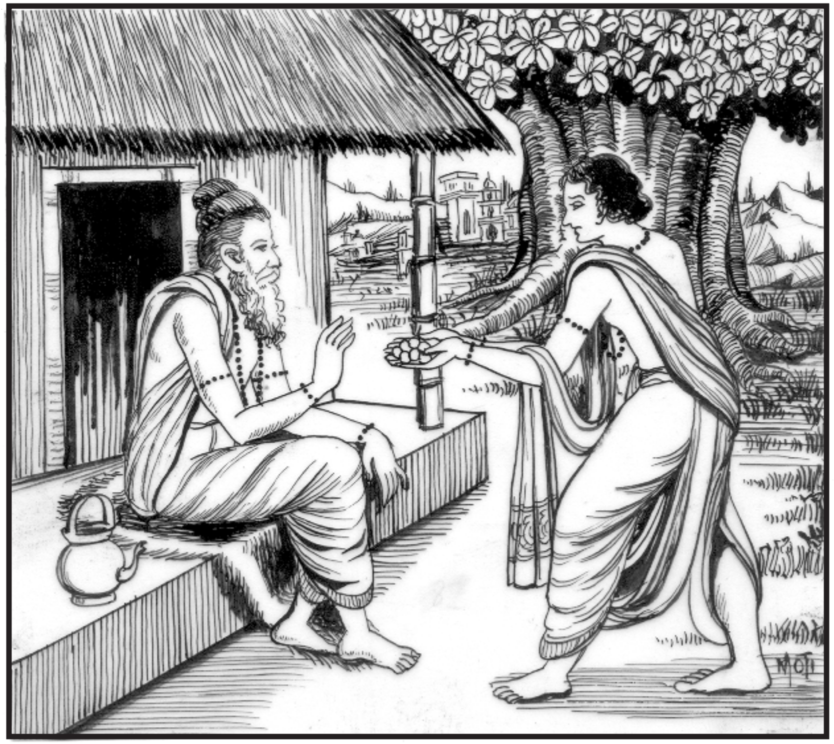
क्या उन चार विषयों की स्थिति नहीं है? अवश्य है।' ऋषि- पुत्र ने कहा– 'पिताजी! जिस विषय को हम एक इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते हैं, उसे हम उन विषयों के अनुरूप अन्यान्य इन्द्रियों से ग्रहण करते हैं। अर्थात् कर्णेन्द्रिय से शब्द, नासिका से गन्ध, जिभ्या से रस और त्वचा से स्पर्श विषय को ग्रहण करते हैं। किन्तु उस ब्रह्म को तो किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते, तब कैसे कहा जाए कि ब्रह्म की स्थिति है?' ऋषि ने उत्तर दिया– 'ऐसी भी वस्तु है, जिसे हम किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते, फिर भी उसका अस्तित्व है।' ऋषि-पुत्र ने कहा– 'पिताजी! यह बात मेरी समझ में नहीं आती।'

ऋषि ने उसे निकट के वटवृक्ष से एक फल लाने का आदेश दिया। पुत्र ने शीघ्र ही एक फल लाकर पिता के सम्मुख उपस्थित किया। पिता ने उसे फोड़ने की आज्ञा दी। पुत्र ने उस फल को फोड़कर देखा, उसमें अनेक दाने थे। पिता ने उन अनेक दानों में से एक दाने को पुनः तोड़ने की अनुमति दी। पुत्र ने उसे भी तोड़कर देखा, उसमें दो दालें थीं। पिता ने पूछा– 'उन दो दालों के बीच में क्या है?' पुत्र ने कहा– 'कुछ नहीं।' पिता ने कहा– ''प्रिय वत्स! जिसे तुम 'कुछ नहीं' कहते हो, उस अव्यक्त तत्त्व से ही इतना बड़ा विशाल वटवृक्ष व्यक्त हुआ है।''

अव्यक्त तत्त्व सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय अग्राह्य है। इसी भाँति परम प्रभु परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण बाह्येन्द्रिय को कौन कहे, अन्तरेन्द्रिय– मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से भी ग्रहण होने योग्य नहीं है। इसीलिए कहा गया है– *'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'* (शाण्डिल्योपनिषद्) तथा– *'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।'* (मुण्डकोपनिषद्)

ऋषि-पुत्र ने जिज्ञासा की– 'पिताजी! जब हम उस ब्रह्म को बाह्य वा अन्तः किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते, तब तो उसे अप्राप्य ही कहना चाहिए।' ऋषि ने समझाया– 'पुत्र! ऐसी बात नहीं है। जैसे एक-एक विषय को ग्रहण करने के लिए एक-एक इन्द्रिय नियुक्त है तथा एक इन्द्रिय का विषय दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकती, इसी भाँति परम प्रभु सर्वेश्वर की प्रत्यक्षता चेतन आत्मा ही कर सकती है। अतएव सर्वप्रथम तुम स्वयं अपने को जानो, कौन हो?'

इन्द्रियों से परे मन है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से महतत्त्व बढ़कर है और महतत्त्व से अव्यक्त उत्तम है। अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है, जो व्यापक तथा अलिंग है, जिसे जानकर



मनुष्य मृत्यु के मुख से छूटकर अमृतत्व को प्राप्त करता है। तुम इसी उत्तम पुरुष– पुरुषोत्तम के अभिन्न अंश हो। *'ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी।।'* उस प्रभु को प्राप्त करने में मात्र तुम (चेतन आत्मा) समर्थ हो, अन्य कोई वा कुछ नहीं।

ऋषि-पुत्र ने सशंकित स्वर में कहा– 'पिताजी! मुझे इसमें भी संदेह है कि जीवात्मा सर्वेश्वर का अभिन्न अंश है। ईश्वर में तो महती शक्ति है, किन्तु जीवात्मा में तो उस शक्ति की कुछ भी अभिव्यक्ति नहीं होती। जिस प्रकार अग्नि में दाहक शक्ति होती है, तो उसके कणिका मात्र में भी जलाने की क्षमता होती है। उसी भाँति यदि ईश्वर में सृजन, पालन तथा प्रलय तीनों शक्तियाँ हैं, तो चेतन आत्मा में भी उक्त गुण अवश्यम्भावी है, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता। फिर, कैसे माना जा सकता है कि चेतनात्मा परमात्मा का अखण्डित अंश है। ऋषि ने कहा– 'वत्स! मेरे कमण्डलु में गंगाजल ले आओ, फिर मैं बताऊँगा।' ऋषि-पुत्र ने अविलम्ब गंगाजल लाकर पिता के सन्मुख उपस्थित किया और विनम्र होकर निवेदन किया– 'पिताजी! यह गंगाजल है, ग्रहण करें। ऋषि ने हाथ में कमण्डलु लेकर जल को देखते हुए विस्मित होकर कहा– 'यह तो गंगाजल नहीं, सामान्य जल है।' पुत्र ने उत्तर में निवेदन किया– 'पिताजी! आप मेरी बात में विश्वास करें, यह गंगोदक ही है।' ऋषि ने स्पष्ट शब्दों में कहा– 'मैं तुम्हारी बात का विश्वास करूँ तो कैसे? प्रत्यक्ष के समक्ष प्रमाण कैसा? गंगाजी की बड़ी लम्बी-चौड़ी धारा होती है, जिसमें निरन्तर उद्दामगति से जल प्रवहमान होता रहता है। जिसमें बड़ी-बड़ी मछलियाँ और मगरमच्छादि जैसे बड़े-बड़े जीव-जन्तु रहते हैं।

सहस्रों नारी-नर उसके कुल में स्नानादि करते हैं। उसकी वेगवती धारा बड़े-से-बड़े शहरों को पल में विनष्ट कर सकती है। किन्तु इस जलपात्र के जल में तो मुझे वर्णित गंगाजी का एक भी गुण गोचर नहीं होता, इसे गंगाजल कैसे कहा जाय?' पुत्र ने विनीत स्वर में कहा– 'पिताजी! वह तो गंगाजी की महती धारा है और इस कमण्डलु में तो उसका अल्पांश मात्र है। उस महती धारा की महती शक्ति और उसके महान् गुण इस कमण्डल-जल में किस भाँति प्रदर्शित हो सकते? सिन्धु से बूँद की समता कैसे हो सकती है? पिताजी! किन्तु इतना तो अवश्य है कि तत्त्व रूप में दोनों अभिन्न हैं।' ऋषि ने कहा– 'पुत्र! इसी भाँति परमात्मा विभु है और चेतन आत्मा अणु है। विभु के समस्त गुण अणु में गोचर हों, कैसे सम्भव है? किन्तु हाँ, तत्त्व रूप में उभय अभिन्न हैं। जैसे मठाकाश महदाकाश का अभिन्न अंश है, उसी भाँति चेतन आत्मा परमात्मा का अखण्डित अंश है।

इसी चेतन आत्मा के द्वारा परम प्रभु सर्वेश्वर ग्रहणीय है, किन्तु बात यह है कि यावत् पर्यन्त जीवात्मा शरीरों और इन्द्रियों के संग रहता है, तावत् पर्यन्त उसे ब्रह्म की प्रत्यक्षानुभूति नहीं हो पाती। इस हेतु आवश्यकता है उस प्रक्रिया की अभिज्ञता की, जिससे चेतन आत्मा को शरीरों और उनके करणों से पृथक किया जा सके। फिर तो वह स्वतः सूरदासजी के शब्दों में कहेगा–

सूरदास जब यह मति आई, वे दिन गये अलेखे।
कह जाने दिनकर की महिमा, अंध नयन बिनु देखे।।
सूरदास समुझे की यह गति, मन ही मन मुसकायो।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यों गूँगो गूर खायो।।

(शान्ति-सन्देश, दिसम्बर 1964 ई0)

र

2. संतमत अन्य मतों का खण्डन नहीं करता

संतमत सभी संतों का समान रूप से सम्मान करता है, सबका समादर करता है। संतमत में किन्हीं संत को प्रेय अथवा किन्हीं सन्त को हेय दृष्टि से देखा नहीं जाता है; बल्कि संतमत में सभी संत उपादेय है। संतमत किसी भी मत का खण्डन नहीं करता। इस संबंध में एक लघु कथा सुनाता हूँ।

एक समय की बात है– बादशाह अकबर के दरबार में बीरबल नाम के एक व्यक्ति रहते थे। एक दिन बादशाह ने पूछा– 'बीरबल! जो कोई तुमसे कुछ पूछता है तुम अविलम्ब उत्तर देते हो। अच्छा, यह बताओ, तुम कितने पढ़े-लिखे हो?' बीरबल ने कहा– 'जहाँपनाह! थोड़ा बहुत।' बादशाह ने कहा– 'एक बात कहो– थोड़ा अथवा बहुत।' बीरबल ने उत्तर दिया– 'बादशाह सलामत! जहाँ मुझसे कम पढ़े-लिखे लोग होते हैं वहाँ मैं बहुत हो जाता हूँ और जहाँ बहुत पढ़े-लिखे लोग होते हैं, वहाँ मैं कम हो जाता हूँ। इसलिए थोड़ा बहुत दोनों बातें मैंने कही।' बादशाह ने कहा– 'अरे! तुम बात तो बहुत बनाना जानते हो। अच्छा मैं एक लकीर खींच देता हूँ, इसको तुम छुओ नहीं, मिटाओ नहीं, लेकिन छोटी बना दो।' बीरबल ने उस रेखा के समानान्तर नीचे उससे बड़ी रेखा खींच दी और कहा– 'जहाँपनाह! देखिए, आपकी रेखा का मैंने स्पर्श नहीं किया, उसको मेटा नहीं, फिर भी वह छोटी हो गई।'

इस तरह संतमत सबके सामने अपना विचार व्यक्त करता है। अपना आदर्श रखता है। अपनी रुचि के अनुकूल जिनको जो उत्तम लगे ग्रहण करें। (शान्ति-सन्देश, मई 1990)

जापान की एक भक्तिमती महिला यूकिको फ्यूजिता ने एकबार स्वप्न देखा कि समुद्र के मध्य एक विशाल मंदिर में एक महात्मा विराजमान् हैं। स्वप्न टूटने पर उनके प्रत्यक्ष दर्शन की अभिलाषा जग उठी और वह जापान से भारत की यात्रा कर चुकी। भारत आकर यहाँ के साधु-सन्तों के आश्रमों को जा-जाकर उसने देखा; परन्तु स्वप्न में दर्शित अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न सन्त के दर्शन नहीं हो सके। निराश होकर वह जापान लौट गई। संस्कार बड़ा बलवान् होता है। उसने उसे वहाँ चैन लेने नहीं दिया। दिव्य देव के दर्शन के लिए उसे बेचैन कर दिया। पश्चात् दूसरे वर्ष नुनः वह भारत आई और घूमते-घामते मुंगेर योग-विद्यालय पहुँची। वहाँ वह दीक्षित भी हो गई; किन्तु उसे अन्तःशान्ति नहीं मिली। वह बारम्बार लोगों के सामने स्वप्न में दर्शित सन्त की चर्चा करके उनके दर्शन की इच्छा प्रकट करती। अन्त में 'जापर जेहि कर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलहिं न कछु सन्देहू।।' तथा 'जिन ढूँढा तिन पाईयाँ' वाली बात चरितार्थ हो ही गई। किसी ने उसे परम पूज्य गुरुदेव का पता बता दिया। वह भागलपुर, होकर वह जापान जौट गयी। संस्कार बड़ा बलवान् होता है। उसने उसे वहॉ चैन लेने नहीं दिया। पश्चात् दूसरे वर्ष पुनः वह भारत आयी और घूमते-घामते मुँगेर योग-विद्यालय पहुॅची। वहॉ वह दीक्षित भी हो गयी किन्तु उसे अन्तःशान्ति नहीं मिली । वह बारम्बार लोगोंके सामने स्वप्न में प्रकट करती। अन्त में जपर जेहि कर सत्य सनेह। तेहि मिलहिं। ∽ कछु सन्देहू ।। तथा जिन ढुँढा तिन पाइयॉ वाली बात चरितार्थ हो ही गयी। किसी ने उसे परम पूज्य गुरूदेव का पता बता दिया। वह भागलपुर कुप्पाघट आश्रम में

विद्यमान नहीं थे। किन्तु गुरूदेव ही तस्वीर बराामदे की दीवार पर नगी थी। उसे देख कर वह प्रेम–विभोर हो गयी और हर्षातिरेक में बोली– जिनको मैंने स्वप्न में देखा था,ावे महात्मा ये ही हैं। उनके आनन्द का वारापार नहीं था। उसी वर्ष कुछ दिनों के पश्चात् हरिद्वार में अखिल भारतीय सन्तमत सत्संग का वसर्षिक महाधिावेशन होने वाला था। वह वहाॅ भी पहूॅची और वहॅा ही उनको परमाराधय गुरूदेव के प्रथम दर्शन हुए। उस समय वह दर्शन करतेअघनी नहीं थी। कुछ क्षण निर्निमेष देखती रहीं उसकी बातचीत से मालूम पड़ता था कि जैसे वह गुरूदेव से पूर्व परिचित हो। हरिद्वार से भागलपुर आने पर पररम पूज्य गुरूदेव जी महाराज से उसने दीक्षा ली और साधान की अपनी अनुभूति को वह तस्वीर बना कर कागज पर दिखाती थी। यह है सन्तमत का प्रचार , गुरूदेव का चमत्कार।